



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

CHBC - 01
सर्टिफिकेट इन हर्बल ब्यूटि केयर

आयुर्वेद एवं सौन्दर्य वर्णन

विशेषज्ञ समिति

डा० वी० पी० उपाध्याय
प्राचार्य, हिमालयीय आयुर्वेदिक कालेज
श्यामपुर, ऋषिकेश

डा० एन० पी० सिंह
निदेशक, स्वास्थ्य विज्ञान विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,

प्रो० आर० बी० सती
रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज
हरिद्वार

डा० जे० एन० नौटियाल
पंचकर्म विशेषज्ञ
दून चिकित्सालय देहरादून

डा० वन्दना पाठक
आयुर्वेदिक मेडिकल ऑफिसर
कानपुर

डा० सी० एस० भागवत
पूर्व रीडर द्रव्यगुण विभाग
आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज
झांसी

डा० सोहन खण्डूरी
पैक्षिक परामर्शदाता (अंशकालिक)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,

डा० समीर सिंह
लेक्चरर
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

कार्यक्रम समन्वयक

डा० समीर सिंह

डा० सोहन खण्डूरी

पाठ्यक्रम लेखन एवं सामग्री संकलन

डा० वन्दना पाठक
आयुर्वेदिक मेडिकल ऑफिसर
कानपुर

डा० समीर सिंह
लेक्चरर
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम सम्पादन

डा० ए० एन० पाण्डे
शारीर रचना विभाग
ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार

कुलसचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक

उत्तरायण प्रकाशन, हल्द्वानी

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

सर्वधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिये बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। अधिक जानकारी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल से प्राप्त कर सकते हैं।

नोट— पाठ्यक्रम से संबंधित आपके सुझावों का हम स्वागत करते हैं। कृपया अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें—स्वास्थ्य विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल।



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

CABC - 01
सर्टिफिकेट इन आयुर्वेदिक ब्यूटि केयर

आयुर्वेद एवं सौन्दर्य वर्णन

इकाई - 1

आयुर्वेद परिचय एवं मूल सिद्धान्त - 01

इकाई - 2

आयुर्वेद में स्वस्थ रहने के उपाय - 27

इकाई - 3

सौन्दर्य का आयुर्वेद एवं प्राचीन साहित्य में वर्णन - 55

इकाई – 1

आयुर्वेद परिचय एवं मूल सिद्धांत

त्रिदोष –

‘वायुः पित्तः कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः (अ०ह०सू०1/6)

दोष – अर्थात् दूषित करने वाला दोष कहलाता है, तीन दोष होते हैं –वात,पित्त एवं कफ।

ये दोष (वात,पित्त,कफ) यदि विकृत हो जायें तो शरीर को रोगी बनाते हैं और यदि अविकृत रहें तो शरीर को स्वस्थ बनाये रखते हैं।

दोषों के स्थानः—यद्यपि दोष पूरे शरीर में रहते हैं परन्तु मुख्य रूप से दोषों के निम्न स्थान हैं—

दोष	शरीर में स्थान
वायु—	नाभि से नीचे
पित्त—	हृदय एवं नाभि के बीच में
कफ—	हृदय के ऊपा के भाग में

दोषों का कालः—

दिन—रात और भोजन के अन्त में वायु, मध्य में पित्त तथा आदि (प्रारम्भ) में कफ दोष का काल होता है ।

दोष	वय(अवस्था)	दिन	रात्रि	आहार—पाचन
वात	बृद्धावस्था	सांयकाल	अन्तिम प्रहर	अन्त
पित्त	युवावस्था	मध्यकाल	मध्य प्रहर	मध्य
कफ	बाल्यवस्था	प्रातःकाल	प्रथम प्रहर	प्रारम्भ

अग्नि— आयुर्वेद में अग्नि का अत्यधिक महत्व है इसलिये कायचिकित्सा का अभिप्राय अग्नि की चिकित्सा से ही है।

दोषों की विषमता का अग्नि पर प्रभाव —वायु की अधिकता से अग्नि विषम, पित्त से तीक्ष्ण एवं कफ से मन्द हो जाती है।
तीनों दोषों के सामान्य होने पर अग्नि सम रहती है।

कोष्ठ— कोष्ठ से अभिप्राय सामान्यतयः उदर (पेट) से होता है।
वायु से कोष्ठ कूर, पित्त से मृदु एवं कफ से मध्यम तथा वात,पित्त एवं कफ की सामान्य अवस्था से सम रहता है।

प्रकृति— यह जन्मजात स्वभाव होता है तथा गर्भ के समय शुक्र एवं आर्तव के संयोग से तीनों दोषों के अनुसार ही निर्मित होती हैं। व्यक्ति की प्रकृति की जानकारी अति महत्वपूर्ण होती है; क्योंकि इससे उस व्यक्ति या रोगी के आहार—विहार की व्यवस्था एवं चिकित्सा बहुत ही सरलता से की जा सकती है।

वातज प्रकृति हीन, पित्तज मध्यम तथा कफज उत्तम मानी गयी है। द्वन्दज सामान्य वात,पित्त एवं कफ कली प्रकृति से सम या श्रेष्ठ तथा दो दोषों से निर्मित प्रकृति द्वन्दज मानी जाती है।

पंचमहाभूत— सभी द्रव्य पंचमहाभूत पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश से निर्मित हैं।

दोषों के गुण—तीनों दोषों के गुणों की जानकारी आवश्यक है; क्योंकि दोषों की चिकित्सा ही रोग चिकित्सा है।

वात— रूक्ष, लघु, शीत, खर, सूक्ष्म एवं चल वात के गुण होते हैं।

पित्त— स्निग्ध, तीक्ष्ण, ऊष्ण (गरम), लघु, विस्र, सर एवं द्रव पित्त के गुण होते हैं।

कफ—स्निग्ध, शीत(ठण्डा), गुरु(भारी), मन्द(कम चलने वाला), पिच्छिल(चिकना), मृत्सन (चिपकने वाला) एवं स्थिर (न फैलने वाला) कफ के गुण होते हैं।

संसर्ग—क्षीण हुए या कुपित हुए दो दोषों का मिलना संसर्ग है।

सन्निपात— क्षीण हुए या कुपित हुए तीन दोषों का मिलन सन्निपात कहलाता है।

धातु —1. रस 3. मांस 5. अस्थि
 2. रक्त 4. मेद 6. मज्जा 7. शुक्र

जब ये धातुयें शरीर को धारण करती हैं तब धातु कहलाती हैं एवं जब वात आदि दोषों से दूषित हो जाती हैं तो दूष्य कहलाती हैं ।

मल—मूत्र, पूरीष एवं स्वेद ये तीन शारीरिक मल हैं।

वृद्धि एवं क्षय—'वृद्धि: समाने सर्वेषां विपरीतैविपर्ययः (च0सू0 2/14)

इन सब दोष, दृष्टा और मलों की समान कारणों से वृद्धि एवं विपरीत कारणों से क्षय होता है ।

रसः— रस छः हैं—

- 1— मधुर
- 2— अम्ल
- 3— लवण
- 4— कटु
- 5— तिक्त
- 6— कषाय

रसों का दोषों पर प्रभाव—

रसना(जीभ) से ग्राह्य हाने के कारण ये रस कहलाते हैं।

मधुर,अम्ल,लवण— वायु का शमन् करते हैं तथा कफ को बढ़ाते हैं।

कटु तिक्त कषाय— कफ का शमन करते हैं तथा वायु को बढ़ाते हैं।

कषाय तिक्त मधुर— पित्त का शमन करते हैं।

अम्ल लवण कटु— पित्त को बढ़ाते हैं।

वीर्य –गुणों की उत्कर्षता अर्थात् उत्कर्ष शक्ति को वीर्य कहते हैं।

भेद – 1.शीत वीर्य 2.उष्ण वीर्य

द्रव्य भेद— तीन प्रकार के द्रव्य (औषध) होते हैं—

1. शमन – दोष शमन करने वाले द्रव्य शमन द्रव्य कहलाते हैं।
2. कोपन – दोष कृपित करने वाले द्रव्य दोष प्रकोपक द्रव्य कहलाते हैं।
3. स्वस्थ हित – स्वास्थ्य के लिए हितकारी द्रव्य हित द्रव्य या पथ्य द्रव्य कहलाते हैं।

विपाक—परिपाक के कारण इसे रस का विपाक कहते हैं अर्थात् विशिष्ट पाक कहते हैं।

ये तीन प्रकार के होते हैं।

1. मधुर 2. अम्ल 3. कटु

गुण—द्रव्यों में पाये जाने वाले गुण बीस होते हैं—

- | | |
|---------------------------|----------------------|
| 1— गुरु (भारी) | 11— सान्द्र (गाढ़ा) |
| 2— लघु (हल्का) | 12— द्रव्य (पतला) |
| 3— मन्द (धीमा) | 13— मृदु (मुलायम) |
| 4— तीक्ष्ण (तेज) | 14— कठिन (कठोर) |
| 5— शीत (ठण्डा) | 15— स्थिर (ठहरा हुआ) |
| 6— उष्ण (गर्म) | 16— चल (चलने वाला) |
| 7— स्निग्ध (चिकना) | 17— सूक्ष्म (छोटा) |
| 8— रूक्ष (शुष्क) | 18— स्थूल (बड़ा) |
| 9— श्लक्ष्ण (चिपकने वाला) | 19— विषद् (मोटा) |
| 10— खर (खुरदरा) | 20— पिच्छिल (चिकना) |

इसके अतिरिक्त व्यवायी एवं विकासी गुण होते हैं।

व्यवायी—जो द्रव्य सर्वप्रथम शरीर में फैलकर बाद में पचते हैं, व्यवायी द्रव्य कहलाते हैं।

विकासी— जो शरीर के सभी संधिबन्धनों को शिथिल करते हैं विकासी द्रव्य कहलाते हैं।

रोग के कारण—काल,अर्थ एवं कर्म इनका हीन योग, मिथ्या योग और अतियोग रोग के कारण होते हैं एवं इनकी साम्यता आरोग्य का कारण है।

रोग—आरोग्य का लक्षण—दोषों की विषमता रोग है एवं दोषों की समता आरोग्य है।

रोग के प्रकार—

1. निज रोग— जो शरीर के अन्दर वातादि दोष के कारण होते हैं ।
2. आगंतुक रोग – अभिघातज आदि बाहरी कारणों से होते हैं(चोट लगना आदि)।

रोग अधिष्ठान—

तेषां कायमनो भेदाधिष्ठानमपि द्विधा (अ०ह०सू० 1/21)

रोग का अधिष्ठान शरीर एवं मन है।

मन को दूषित करने वाले दोष—रज एवं तम हैं ।

देश – तीन प्रकार के होते हैं—

1—जांगल देश—जांगल देश वायु प्रधान होता है।

2—आनूप देश—आनूप देश कफ प्रधान होता है ।

3—साधारण देश—समान वातादि देश कहा जाता है। दोषों के कारण समान देश या उत्तम देश है।

काल – दो प्रकार का है।

1—चणादि काल।

2—रोगवस्था का काल।

औषध – दोषों या रोगों का नाश करने वाली औषध कहलाती है।

औषध भेद—“शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा । ” (अ०ह०सू०1 / 25)

1—शोधन औषध—जो औषध दोषों को शरीर से बाहर निकालती है; शोधन औषध कहलाती है। इसे पंचकर्म चिकित्सा में प्रयोग करते हैं।

2—शमन औषध —जो दोषों को शरीर में ही समाप्त करती हैं वो शमन औषध कहलाती है। इसमें दोषानुसार मुख्य चिकित्सा विभिन्न दोषों के शमन हेतु निम्नलिखित है –

चिकित्सा	वात	पित्त	कफ
शोधन चिकित्सा	बस्ति	विरेचन	वमन
शमन औषध	तैल	घृत	मधु (शहद)

मानसिक रोगों की औषध –

“धी धैर्यात्मादिविज्ञानम् मनौषौधम् परम् ”(अ०ह०सू० 1 / 26)

मानसिक दोषों के लिए बुद्धि, धैर्य एवं आत्मा के ज्ञान की वृद्धि सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है।

दोषादिविज्ञान का महत्व—

‘दोष धातु मला मूलं सदा देहस्य’ ॥ (अ०ह०सू०11 / 1)

(वातादिदोष), धातु (रस रक्त आदि) ,मल, पुरीष आदि ही देह के मूल हैं ।

वात के कार्य

प्राकृत अवस्था में, उत्साह, श्वास निर्गम, श्वास प्रवेश, चेष्टा, मल, मूत्रादिवेगों की प्रवृत्ति, धातु की उचित गति, इन्द्रियों की विषय ग्रहण करने में निपुणता आदि से शरीर का उपकार करती है।

पित्त के कार्य—

पाचन, उष्णिमा, दर्शन (दृष्टि शक्ति), भूख, प्यास, प्रीति, कान्ति, मेधा, बुद्धि, अस्थूलता, सुकुमारता से शरीर बनाना पित्त के मुख्य कार्य हैं।

प्राकृत कफ—

अंगों की दृढ़ता, स्निग्धता, सन्धि की श्लिष्टता, सहिष्णुता आदि से कफ शरीर का उपकार करता है।

धातुओं के कार्य—

‘प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारण पूरणे।

गर्भोत्पादश्च धातुनां श्रेष्ठ कर्म क्रमात्स्मृत” ॥ (अ०ह०सू०११/४)

अविकृत रसादि धातुओं के कार्य—

रस का कार्य शरीर को बढ़ाना, रक्त का प्राण धारण करना ,माँस का उपदेह या लेपन करना, मेद का स्नेहन करना, अस्थि का कार्य शरीर को धारण करना या आधार प्रदान करना, मज्जा का अस्थियों को स्नेह से पूर्ण करना, शुक्र का गर्भोत्पादन करने में क्रमशः उत्तम कर्म हैं।

मलों के कर्म—

पुरीष का कर्म शरीर का अवष्टम्भन(धारण) करना है। मूत्र का कर्म क्लेद को शरीर से बाहर निकालना है।

स्वेद के कर्म —क्लेद को धारण करना श्रेष्ठ कर्म है।

वृद्ध वायु के कर्म—

कृशता, कालापन, उष्णता, कम्पन, आनाह, मलावरोध, मलभ्रश, निद्रानाश, इन्द्रियों का विषयों को ग्रहण न करना, प्रलाप, चक्कर आना और दीनता उत्पन्न करना है।

वृद्ध पित्त के कर्म—

मल, मूत्र, नेत्र, त्वचा में पीलापन, भूख, प्यास, दाह तथा नींद को कम करता है।

वृद्ध कफ के कर्म—

अग्निमान्द्य, मुख से लालास्राव, आलस्य, भारीपन, अंगों में श्वेत वर्ण, शीतलता, शिथिलता, श्वास,कास एवंनिद्राधिक्य हैं।

वृद्ध रस के कर्म—

‘ रसोऽपि श्लेष्मवत् ’।

बढ़ा हुआ रस भी कफ की भाँति कार्य करता है।

वृद्ध रक्त के कर्म—

विरसप, प्लीहावृद्धि, विद्रधि, कुष्ठ, वात रक्त, रक्तपित्त, गुल्म, उपकुश (दन्तरोग विशेष), कामला, झाँई, अग्निनाश, सम्मोह, त्वचा तथा आँख मूल में लालिमा उत्पन्न करता है।

वृद्ध माँस के कर्म—

गलगण्ड, गण्डमाला, अबुर्द, ग्रन्थि(गाठें/गिलटी), अंसवृद्धि, कण्डु, तालु, जिह्वा, अधि माँस(माँस के ऊपर माँस) उत्पन्न करता है।

वृद्ध मेद के कर्म—

बढ़े हुए माँस की भाँति काम करता है और थोड़े से परिश्रम से भी थकान एवं श्वास होता है। नितम्ब, स्तन, उदर लटकने लगते हैं।

वृद्ध अस्थि के लक्षण—अधिक अस्थि एवं अधिक दांत अबुर्द के रूप में उत्पन्न होते हैं।

वृद्ध मज्जा के लक्षण—

नेत्र एवं दूसरे स्थानों में भारीपन तथा पर्व, सधि – मूलों में स्थूल तथा कष्ट साध्य फुंसियों को उत्पन्न करती हैं।

वृद्ध वीर्य—

अतिशय स्त्रीसंगेच्छा, शुक्राश्मरी उत्पन्न करता है।

वृद्ध पुरीष—

बढ़ा हुआ मल उदर में आध्मान, गड़गड़ाहट, भारीपन और पीड़ा करता है।

वृद्ध मूत्र—

बस्ति प्रदेश में व्यथा तथा मूत्र त्याग करने पर भी मूत्र त्याग नहीं होना ऐसा प्रतीत होता है।

वृद्ध स्वेद—

अतिस्वेद, दुर्गन्धता एवं कण्डु (खुजली) करता है।

वृद्ध नेत्रादि के मल का कर्म

नेत्र आदि के स्थानों पर भारीपन करता है।

क्षीण वातादि के कर्म

अगों में शिथिलता, थोड़ा बोलना, थोड़ी चेष्टा करना, बुद्धि का व्यामोह तथा कफवृद्धि में वर्णित रोग अग्निमांद्य आदि रोग की उपत्ति होती है।

क्षीणपित्त के कर्म

अग्निमांद्य के लक्षण, शीत लगना और प्रभा कान्ति का नाश होना।

क्षीण कफ के कर्म

चक्कर, छाती, पीठ आदि कफाशयों में शून्यता, हृदय जल्दी-जल्दी धड़कना और सन्धियों में शिथिलता।

रसादि की क्षीणता—

शरीर में रूक्षता, थकान, शोष, ग्लानि, शब्द की असहिष्णुता होती है।

रक्त क्षय के लक्षण—

अम्ल रस तथा शिशिर ऋतु, ठण्डी वस्तुओं में रूचि, शिराओं की शिथिलता तथा रूक्षता रहती है। उष्ण की चाह द्रव भाग के क्षय से होती है।

माँस क्षय के लक्षण—

इन्द्रियों में दुर्बलता, गण्ड, नितम्ब में उष्णता, संधियों में वेदना।

मेद क्षीण के लक्षण—

कटि में स्पर्श ज्ञान का नाश, प्लीहावृद्धि, अंगों में कृशता।

अस्थि क्षीण के लक्षण—

अस्थियों में वेदना, केश, दन्त का गिरना।

मज्जा क्षीण के लक्षण—

अस्थियों में खोखलापन, चक्कर आना, आँखों के सामने अन्धेरा होना।

शुक्र क्षय के लक्षण—

शुक्र का देर में क्षरण होना, रक्त आना (साथ में या अलग से), वृषण में अतिशय वेदना, मेहन में जलन।

मल क्षय के लक्षण—

मल के क्षीण होने पर वायु शब्द के साथ आँतों को ऐंठती हुई सी उदर में घूमती है तथा हृदय एवं पार्श्व को अतिशय दबाती हुई वायु उपर की ओर जाती है।

मूत्र क्षय के लक्षण—

मूत्र थोड़ा एवं कठिनता से आता है। मूत्र का रंग बदला हुआ अथवा मूत्र रक्त के साथ मिला होता है।

स्वेद (पसीने) क्षय के लक्षण—

रोम का गिरना, रोम का कड़ापन एवं त्वचा का फटना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

घ्राणादि मल क्षय के लक्षण—

नेत्रादि के मल जो अतिशय छोटे हैं एवं आँखों से नहीं देखे जा सकते हैं उनके शुष्क होने से चुभने जैसा दर्द, शून्यता, लघुता को देखकर घ्राणादि मलों का क्षय समझा जा सकता है।

दोषादि की साधारण क्षय—वृद्धि के लक्षण—

अपने—अपने गुणों के बढ़ने और क्षय होने से क्रमशः शरीरगत दोष आदि की क्षय और वृद्धि जाननी चाहिए। जब शरीर में स्निग्ध, गुरु, ऊष्ण का क्षय हो तो वात वृद्धि जानें, मलों के बाहर न निकलने से दोषादि की वृद्धि एवं अतिशय बाहर निकलने से दोष का क्षय समझना चाहिए।

मलों की क्षीणता के उपद्रव—

मल देह का सात्म्य है अतः दोषादि का क्षय इनकी वृद्धि की अपेक्षा अधिक कष्टदायी होता है।

दोषों का आश्रय—

वायु अस्थियों में रहती है, पित्त स्वेद एवं रक्त में ,कफ शेष धातुओं (रस, मांस ,मेद, अस्थि, मज्जा ,शुक्र) में एवं मल ,मूत्र वायु के अपतर्पण से बढ़ती है।

वायु के अतिरिक्त – वृद्धि जन्य रोगों में लंघन चिकित्सा करनी चाहिए। क्षय जन्य रोगों में वृहण चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्सा—

वायु को छोड़कर वृद्धिजन्य रोगों में अपतर्पण (लंघन चिकित्सा) करनी चाहिए। क्षय जन्य रोगों में संतर्पण (वृहण चिकित्सा) करनी चाहिए।

वायु के विकारों में –

वात वृद्धि जन्य विकारों में –संतर्पण चिकित्सा।

रस क्षय में –रस बढ़ाने वाली चिकित्सा।

रक्त वृद्धि में—रक्त स्राव और विरेचन चिकित्सा।

मांस वृद्धि में – शस्त्र चिकित्सा, अग्निकर्म चिकित्सा।

मेद वृद्धि में— स्थौल्य हर (कर्षण) चिकित्सा।

अस्थि क्षय जन्य रोगों में – तिक्त द्रव्यों से साधित दूध, घी और वस्ति चिकित्सा।

पुरीष वृद्धि रोगों में – विरेचन चिकित्सा।

मल क्षय जनित रोग में –भेड़, बकरी के मध्य भाग का मांस, जौ, उड़द और राजमास

के प्रयोग से चिकित्सा करें।

मूत्र वृद्धि रोगों में—हर चिकित्सा करें।

मूत्र क्षय में— मूत्र कृच्छ की चिकित्सा करें।

स्वेदक्षय में— व्यायाम, अम्यग, स्वेदन, मद्यपान कराना चाहिए।

शक्रवृद्धि चिकित्सा—सम्भोग,कटुतिक्त,कषायद्रव्य प्रयोग करें।

शुक्रक्षय में –स्वादु एवं मधुर भोजन करना चाहिए।

धातुओं के क्षय-वृद्धि का कारण-

धात्वाग्नि के मंद होने से धातुओं में वृद्धि तथा धात्वाग्नि वृद्धि होने से धातुओं का क्षय होता है।

दोषों से रोगों की उत्पत्ति का कारण-

रस (मधुरादि) से दूषित होते हुए दोष धातुओं को दूषित करते हैं और दूषित धातु मलों को दूषित करते हैं। दूषित मल स्रोतस को दूषित करते हैं इससे अपने-अपने प्राकृतिक दोष के अनुसार रोग होते हैं।

मलायन-

दो अधोमार्ग- गुदा और मेहन मलयन होते हैं, सिर में सात दो कान, दो नेत्र, दो नासिका तथा एक मुख इनको मलायन कहते हैं।

स्वेदवाही छिद्र-

रोम कूप व मलायन मलों के स्थान होते हैं।

रस (मधुरादिरस)-

दोष रसादि धातुओं को दूषित कर अपने-अपने रोग उत्पन्न करते हैं।

ओज का लक्षण-

रस धातु से शुक्र धातु तक सप्तधातुओं का जो उत्कृष्ट (सार) तेज है उसका नाम ओज है।

स्थान-

ओज सम्पूर्ण शरीर में भी व्याप्त है, परन्तु हृदय इसका विशेष स्थान है। यह जीवन का आधार है।

ओज नाश होने पर मृत्यु निश्चित है।

ओज के रहने पर जीवन रहता है, इसके खत्म होने पर जीवन समाप्त हो जाता है। अत्यन्त शुद्ध होने से ओज में मल का अभाव रहता है।

यह 'पर' एवं अपर 'ओज' दो प्रकार का होता है।

पर ओज —आठ बिन्दु की मात्रा 'पर-ओज' की बतायी गयी है।

अपर ओज —आधा अंजलि मात्रा 'अपर ओज' की मात्रा बतायी गयी है।

ओज क्षय — क्रोध, भूख, शोक, चिन्ता, श्रम से ओज क्षय होता है।

लक्षण —ओज क्षय के निम्न लक्षण होते हैं —

रोगी डरता है, हीन बल हो जाता है, इन्द्रियों में वेदना एवं कान्ति मलिन हो जाती है, मन दूषित होने से उत्साह चला जाता है। रोगी रूक्ष तथा कृष हो जाता है।

चिकित्सा— जीवन्ती आदि जीवनीय संज्ञक औषध, दूध, मांस, रस, आदि औषधि देनी चाहिए ।

ओज वृद्धि के लक्षण— ओज वृद्धि से शरीर तुष्टि, प्रवाह, पुष्टि का उत्कर्ष होता है।

अतः इसकी वृद्धि से विकार नहीं होता है।

वृद्धि-क्षय की चिकित्सा— इच्छित किन्तु अविच्छेदी (जो अपथ्य न हो) को खाते हुये दोष की क्षय-वृद्धि को जीते। दोष बढ़ने पर अपने गुणों से विपरीत गुण वाले अन्न , कम हुए दोष अपने समान गुणों वाले अन्न पर रुचि उत्पन्न करते हैं। ऐसा प्रायः होता है।

अवस्था-भेद

अवस्था-भेद में इस नियम का अपवाद है। बढ़े हुए दोष अपने बल के अनुसार अपने-अपने गुण धर्म और लक्षणों का विस्तार करते हैं। क्षीण हुए दोष अपने गुण धर्म को छोड़ देते हैं, अर्थात् कम हो जाते हैं। साम्यावस्था में दोष अपना उचित काम करते हैं।

जो दोष सामान्य अवस्था में शरीर वृद्धि के कारण होते हैं वही दोष विषम अवस्था में शरीर नाश के कारण होते हैं। इसलिए इन दोषों की हितचर्या, (पथ्य आहार-विहार) द्वारा क्षय वृद्धि में रक्षा करनी चाहिए।

दोष भेदीय अध्याय :- वायु के स्थान :- मुख्य रूप से नाभि के नीचे वायु का स्थान है।

पाक्वाशय, कटि, सविथ, स्त्रोत्र, अस्थि हैं तथा मुख्य स्थान पक्वाशय है।

पित्त के स्थान-नाभि, आमाशय, स्वेद, लसिका, रक्त हैं। रस, नेत्र, त्वचा तथा मुख्य स्थान नाभि है।

कफ के स्थान- छाती, कण्ठ, सिर, आमाशय, रस, मेदश्राव, जिह्वा कफ के स्थान हैं। इसका मुख्य स्थान छाती एवं इसके ऊपर का स्थान है।

वायु के पांच भेद-

1. प्राण वायु- भिर, हृदय प्रदेश, मुख, कण्ठ आदि हृदय, फुफ्फुस एवं श्वास प्राण वायु का स्थान है। इसका कार्य प्रश्वास की गति का समुचित नियमन करना है। थूकना, छींकना, भोज्य पदार्थों को निकालना, इन्द्रियों को धारण करना इसके अन्य कर्म हैं।
2. उदान वायु- उदान वायु का स्थान, छाती (उरः प्रदेश) है। इसके मुख्य कार्य गले में गति, वाणी प्रवृत्ति, उत्साह, ऊर्जा बल, वर्ण आदि।
3. व्यान वायु- हृदय इसका मुख्य स्थान है। सम्पूर्ण शरीर में गति तथा शरीर की सम्पूर्ण क्रियायें इससे होती हैं।
4. समान वायु- सम्पूर्ण शरीर में इसका स्थान है। इसका मुख्य कार्य अग्नि को दीप्त कर पाचन क्रिया के नियमित रखना है। अन्न का ग्रहण पचाना विरेचन सार किट्ट विभाग इसके कार्य है।
5. अपान वायु- गुदा इसका मुख्य स्थान है तथा श्रोणि, गर्भशय, वस्ति, मेहन शुक्र आदि इसके अन्य स्थान हैं। शुक्र, आर्तव, मल तथा मूत्र को बाहर निकालना इसका मुख्य कार्य है।

पित्त के पांच भेद है –

1. पाचक पित्त— पक्वाशय एवं आमाशय, के बीच इसका स्थान माना गया है। यह अन्न को पचाता है। अन्न के सार एवं किट्ट भाग को अलग-अलग करता है।
2. रंजक पित्त— अमाशय में रहता है। यह मल, मूत्र एवं त्वचा को रंग देने का कार्य करता है।
3. साधक पित्त— हृदय में रहता है। यह मेधा, (बुद्धि), अर्थ को स्पष्ट करने का कार्य करता है।
4. आलोचक पित्त— आलोचक पित्त आंखों में रहता है। यह दृश्य बोध कराता है।

भ्राजक पित्त – यह त्वचा में रहता है तथा शरीर की प्रभा को निखारता है।

कफ के पांच भेद—

1. अवलम्ब कफ – यह छाती में रहता है तथा हृदय का अवलम्बन करता है तथा तर्पण एवं पूरण करता है।
2. क्लेदक कफ— यह आमाशय में रहता है तथा समूह का क्लेदन (गीला एवं मृदु) करने से क्लेदक कफ कहलाता है।
3. बोधक कफ— यह जिह्वा में रहता है तथा रस का ज्ञान कराने से बोधक कहलाता है।
4. तर्पक कफ— इसका स्थान शिर है तथा यह इन्द्रियों का तर्पण करता है।
5. श्लेष्मक कफ— यह सन्धियों में रहता है तथा सन्धियों का श्लेषमण (स्नेह एवं बंधन) करता है।

वात् का संचय, प्रकोप एवं प्रश्मन –

दोष	संचय	प्रकोप	प्रश्मन
वात	उष्णिमा मिश्रित रूक्षस्निग्ध गुण	शीत गुण से युक्त	उष्णिता युक्त द्रव्यों के

	वाले द्रव्य सेवन से	आहार—विहार सेवन से	सेवन से
पित्त	शीत + तीक्ष्ण द्रव्य से वसा गुणों से युक्त	ऊष्ण (गर्म) द्रव्य सेवन	शीत + मंद द्रव्यों के सेवन से
कफ	शीत + स्निग्ध द्रव्य सेवन	उष्णिमा युक्त द्रव्य सेवन	उष्णिमा + रूक्ष गुणों वाले द्रव्यों के सेवन से

चय — जब दोष अपने ही स्थान पर बृद्ध होते हैं तब विपरीत गुण की इच्छा रहती है।

कोप — दोषों का उन्मार्ग गमन अथवा अपने स्थान से अन्य स्थान पर जाना कोप है कुचित दोष उस स्थान पर अपने लक्षण दिखाता है; इस अवस्था में शरीर अस्वस्थ हो जाता है और रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

शमन—दोष का पुनः अपने स्थान में अपने प्रमाण में हो जाना एवं रोग उत्पन्न न होना दोष शमन है।

‘संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम्।

व्यक्ति भेदम् चयोवेत्ती दोषाणां स भवेदभिषक’ ॥ (सु.सू.अ. 21/36)

वातादि दोषों का चयादि काल—

‘चय प्रकोप प्रशमाः वायोः ग्रीष्मदिषु त्रिषु

वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्माणाम् शिशिरादिषु ’ ॥(अ.सू.सू 12/25)

दोष	संचय	प्रकोप	शमन
वत्	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्
पित्त	वर्षा	शरद्	हेमन्त
कफ	शिशिर	बसन्त	ग्रीष्म

दोष संचय का कारण—

वात—लघु, रूक्ष गुण(खान—पान से), लघु, रूक्ष गुण की वायु(काल—स्वभाव)लघु, रूक्ष शरीर में संचित होती है । परन्तु ग्रीष्म काल में ऊष्ण होने से कुपित नहीं होती है ।

पित्त—वर्षा ऋतु में जल के अम्लपाक होने से औषधियों के भी अम्लपाक हो जाने से, पित्त संचित होता है । परन्तु वर्षा काल के शीतल होने से प्रकुपित नहीं हो पाता ।

कफ— शिशिर में स्निग्ध, शीतल गुण से युक्त आहार आदि खान—पान, जल एवं औषधी से कफ संचय होता है। परन्तु काल और शरीर के समान होने से कुपित नहीं होता है (जैसे शीत काल में जमा घृत संचित नहीं होता)।

दोषचयादि के अन्य कारणः—संचय, प्रकोप, प्रशमन काल के स्वभाव से होता है ।

प्रकोपक आहार—विहार से काल न होने पर भी दोष प्रकुपित हो जाते हैं; तथा शमन आहार— विहार से काल होने पर भी दोष प्रकुपित नहीं होते ।

आहार (अन्न) विहार (देश) के कारण दोषों का तुरन्त ही काल न होने पर भी संचय आदि हो जाता है, तथा पथ्य आहार—विहार से काल होने पर भी दोष संचय नहीं होता ।

दोष की व्याप्ति एवं निवृत्ति— कुपित दोष एकदम सिर से लेकर पैर तक सारे शरीर में फैल जाते हैं परन्तु पानी की भांति थोड़ा—थोड़ा कर लौटता है ।

दोषों की प्रधानता —सभी रोगों के कारण दोष ही हैं। धातुओं की विषमता, रोग समूह सदा वात, पित्त, कफ तीनों दोष ही होते हैं ।

दोष प्रकोप के संक्षिप्त कारण—असात्म्य शब्दादि विषयों के साथ श्रोत आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होना ।

काल —शीत, उष्ण, वर्षा तीन काल होते हैं ।

योग — ऐहिक एवं पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्म
कालार्थ कर्मणां योगो हीन मिथ्यातिमात्रकः । (अ०हृ०२/२६)
काल हीन, मिथ्या, अति योग भेद से तीन प्रकार के हैं ।

हीन योग — अपने लक्षणों से बहुत कम हीन योग कहलाता है ।
जैसे सूक्ष्म चीजों का देखना ।

अतियोग — अपने लक्षणों से अधिक अतियोग कहलाता है ।
जैसे कान से अत्यन्त बड़े शब्दों को सुनना ।

मिथ्या योग — अपने लक्षणों से वितरीत होना मिथ्या योग है ।
विकृत रोग देखना, नाक से दुर्गन्ध सूंघना ।

कर्म—त्रिविध हैं । तीन प्रकार के कार्य हैं—

—कायिक — शारीरिक कर्म — जो शरीर से किये जाते हैं ।

—वाचिक — बोलने का कर्म — जो बोल कर किये जाते हैं

—मानसिक — मन से सम्बन्धित कर्म — जो मन से सम्बन्धित हैं मानसिक कर्म कहलाते हैं ।

दोषों के निदान—दोषों का निदान कारण है । इस कारण से कुपित दोष शाखा, कोष्ठ एवं अस्थि सन्धि में स्थित होकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं ।

बाह्य मार्ग के रोग—

बाह्य मार्ग—शाखा शब्द से रक्तादि धातु और त्वचा ग्रहण करते हैं। ये रोग के बाह्य मार्ग हैं।

रोग—मषक, व्यंग, गण्ड, अलजी, अबुर्द आदि बाह्य मार्ग के रोग हैं।

कोष्ठ मार्ग—कोष्ठ अन्तः मार्ग को कहते हैं। इसी को महास्रोतस् भी कहते हैं। यह आमाशय एवं पक्वाशय आश्रित हैं ।

मध्यम रोग मार्ग—सिर, हृदय, अस्थि मर्म और अस्थियों की सन्धियाँ तथा इनसे सम्बन्धित सिरा, स्नायु, कन्दरा मध्यम रोग मार्ग हैं । इनमें— यक्ष्मा, पक्षवध, अर्दित, सिर आदि के रोग, सन्धि, अस्थि और त्रिक् मूल के रोग तथा स्तब्धता आदि होते हैं।

विकृत वायु के कर्म—सन्धि की गति में बाधा व्यास (फैलना—खुलना), व्यध (चुभने जैसी पीड़ा), संज्ञानाश, तोद, (सुई चुभने जैसी पीड़ा), अंग का जुड़ जाना, फटने की पीड़ा, अंग का सिकुड़ जाना, प्यास, कम्पन, कर्कशता, खोखलापन, सुखना, ऐंठन, मुख में कसैलापन, होना आदि विकृते वायु के कर्म हैं।

विकृत पित्त के कर्म—जलना, रक्तिमा, उष्णिमा, पकना, पसीना, किलन्नता, स्राव का होना, सड़ना, शिथिलता, मूर्छा, मद, अम्लरस, पाण्डु, पीला, नीला, हरा, लाल होना ये विकृत पित्त का कार्य हैं।

विकृत कफ के कार्य—अति स्निग्धता, कठिनता, कण्डू, शीतलता, भारीपन, स्रोतों का अवरोध, उपलेप (लेपना), शरीर के अंगों में निष्क्रियता, शोक, पाक न होना, नींद का अधिक आना, श्वेत वर्ण, मधुर व लवण रस तथा देर में काम करना, विकृत कफ के कार्य हैं।

रोगी का बार-बार निरीक्षण:-सम्पूर्ण रोगों में लागू होने वाले दोषों के जो लक्षण कहे गये हैं उनको दर्शन आदि से सावधानी के साथ रोग की अवस्था विभाग को जान कर, प्रति क्षण रोगी को जानना चाहिए।

रोगी के बार-बार निरीक्षण का कारण— दृष्टि अभ्यास से सफलता प्राप्त होती है जैसे— अच्छे बुरे रत्नों की पहचान व ज्ञान शास्त्र पढ़ने से नहीं अपितु अभ्यास से होता है। रोग तीन प्रकार के होते हैं ।

1:-दृष्टि कर्मज— जिसमें रोग का कारण दिखता हो।

2:-अशुभ कर्मजन्य (अदृष्कर्मज)— पहले किये अपराधजन्य रोग। अपराध एवं अशुभ कर्मों से मानसिक क्लेश, ग्लानि आदि होती है, जिससे ऐसे रोग उत्पन्न होते हैं।

3:-दृष्टादृष्ट कर्मज— मिश्रित होने के कारण, कभी कारण दिखता है तथा कभी नहीं भी दिखता है।

व्याधि के लक्षण—

दोषजन्य रोग— निदान के अनुसार दोषों के लक्षण वाले रोग होते हैं ।

कर्म जन्य रोग— कारण बिना ही रोग उत्पन्न होते हैं ।

दोष कर्मजन्य रोग — थोड़े ही कारण में बहुत बड़े रोग उत्पन्न होते हैं।

मिश्रित व्याधि चिकित्सा— दोष जन्य रोग विरोधी वस्तु सेवन से शमन होते हैं ।

कर्म जन्य रोग— कर्म के क्षय से शान्त होता है ।

दोष कर्म जन्य रोग—दोष एवं कर्म दोनों के क्षय से शान्त होता है ।

वायु का उपचार—स्नेह, स्वेद, मृदु संशोधन, मधुर, अम्ल, लवण और उष्ण भोजन, अभ्यंग, मर्दन, वेष्टन (लपेटना), सेक, पिठ्ठी तथा गुड़ से बने मद्य, स्निग्ध एवं उष्ण बस्तियाँ, सुखाभ्यास, दीपन, पाचन से सिद्ध तैल, (चित्रकादि, पाचन—मुस्तादि से पकाये तिल तैल) अनेक योनि वाले स्नेह, विशेषकर मेद, माँस रस, तैल एवं अनुवासन (स्नेह बस्ति) वायु की चिकित्सा है ।

पित्त का उपचार—घृत पान, मधुर, शीतल द्रव्यों से विरेचन ।

—मधुर, तिक्त, कषाय रस वाले भोजन और औषध सेवन ।

—सुगंध, शीतल और मन के प्रिय गंधों का सेवन ।

—गले में मुक्ताओं की माला का धारण ।

— कर्पूर, चन्दन, खस का शरीर पर लेप ।

—शीतल जल की धारायें से स्नान ।

—मन को प्रसन्न करने वाले पदार्थ , दूध, घी और विरेचन ये सभी पित्त शमन करते हैं ।

कफ का उपचार—विधि पूर्वक दिये गये तीक्ष्ण वमन, विरेचन, रूक्ष, अल्पतीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त एवं कषाय अन्न का सेवन ।

— चिरकाल पूर्व निर्मित मध सेवन ।

—सम्भोग में प्रीति (मैथुन नहीं) ।

—रात्रि जागरण, अनेक प्रकार के व्यायाम, चिन्ता, रूक्ष उपचार और मर्दन करना चाहिए ।

—वमन, यूष, मधु, मेद नाशक औषध, धूम्रपान आदि कफ नाश कारक है ।

मिश्रित दोष उपचार—गण्डूष, सुख का अभाव (कठिन जीवन शैली कफ नाशक है)

—संसर्ग,सन्निपात में अपने विचार से चिकित्सा करनी चाहिए ।

अन्य उपचार—वायु योगवाही होने से वायु और पित्त के संसर्ग का ग्रीष्म ऋतु में उपचार होता है। कफ और वायु का बसन्त ऋतु में उपचार तथा कफ पित्त का शरद ऋतु में उपचार करना चाहिए ।

उपचार का समय—दोषों को उनके संचय काल में ही शान्त करना चाहिए।

यदि दोष कुपित हो जायें तब (दूसरे दोषों)से बिना विरोध के शान्त करना चाहिए। तीनों दोषों के कुपित होने पर बलवान दोष को शेष दोषों का विरोध न करते हुए शान्त करना चाहिए।

कोष्ठ से शाखादि में दोषों का गमन—

व्यायाम के कारण,उष्णिमा, तीक्ष्णता से, अहित आचरण से, वायु की द्रुत गामी होने से कोष्ठ से शाखा में (बहिर्माग) अथवा अस्थि, मर्म (मध्यं रोग मार्ग) में पहुंच जाते हैं।

शाखादि से कोष्ठ में जाना —

वृद्ध्याभिष्यन्दनात् पाकात् स्रोतों मुख विशोधनात्
शाखानमुक्तामलकोष्ठ याति वायोश्चनिग्रहात्।

पूर्व कर्म से, स्रोतों के मुखों का शोधन होने से (खुलने से), दोषों में वृद्धि, अभिष्यंदन (विलयन) एवं पाचन होने से तथा वायु के नियन्त्रित हो जाने के कारण दोष शाखा, अस्थि, सन्धि और मर्म से कोष्ठ में पहुंच जाते हैं।

कोष्ठ स्थित दोषों का कार्य व कुपित होने का कारण—दोष शाखा से कोष्ठ में आकर रुक जाते हैं(रोग नहीं उत्पन्न करते हैं) और अधिक कारण की प्रतीक्षा करते रहते हैं तथा ये दोष काल, देश का साथ में मिलने पर कुपित होकर दूसरे स्थानों में भी कुपित होकर रोग उत्पन्न करते हैं।

शाखा में गये दोषों को पहले स्नेहन, स्वेदन के द्वारा कोष्ठ में लाकर निकटतम मार्ग से निर्हरण करें ।

साम :-आमयुक्त दोष— स्रोतावरोध, बलहानि, भारीपन, वायु का अवरोध, आलस्य, आहार का न पकना, मुख स्राव, पुरीण की अप्रवृत्ति, अरूचि, ग्लानि ये साम लक्षण हैं ।

आम—अग्नि की दुर्बलता से अपक्व एवं दूषित अर्थात् वातादि दोषों से युक्त आमाशयगत आद्य(प्रथम) रस धातु को आम कहते हैं। अतिदूषित हुए दोषों के परस्पर मिलने से आम की उत्पत्ति होती है । बिना चलायमान हुए दोषों को पंचकर्म से बाहर निकालने का प्रयास न करें जिस तरह कच्चे फल से रस निकालने की तरह ही फल ही नष्ट हो जाता है परन्तु रस नहीं निकलते हैं ।

उक्त दोषों में कर्तव्य—ऐसे दोषों में पाचनीय एवं दीपनीय औषधियाँ एवं दीपन, पाचन औषधियों से सिद्ध स्नेह, स्वेद से संशोधन योग्य बनाकर समीपस्थ मार्ग से दोष के बलानुसार यथोक्त काल में शोधन द्रव्यों से शोधन करें ।

दोषों के समीपस्थ मार्ग—

—मुख से दिया द्रव्य आमाशय से दोषों को नष्ट करता है ।

—नासिका से दी गयी औषधि जत्रु के ऊपर के रोगों को नष्ट करती है ।

—गुदा मार्ग से दी गई औषध पक्वाशय के रोगों को शीघ्र नष्ट करती है ।

नहीं रोकने वाले दोष— ऊपर या नीचे की ओर प्रेरित हुए तथा स्वयं बाहर निकलते हुए आम दोष को औषधियों से नहीं रोकना चाहिए क्योंकि रोके जाने पर ये रोग उत्पन्न करते हैं ।

वायु आदि का शोधन काल—

- ग्रीष्म में संचित वायु का – श्रावण में (वर्षा ऋतु) में शोधन करना चाहिए
 वर्षा में संचित पित्त को – कार्तिक में (शरद ऋतु) में शोधन करना चाहिए
 हेमन्त में संचित कफ को – चैत्र (बसन्त ऋतु) में शोधन करना चाहिए

औषधि सेवन काल-

शमन औषधि काल –अन्न के जीर्ण होने पर औषधि देनी चाहिए।

- 1.अन्न औषधि काल – औषध के जीर्ण होने पर औषधि देना अन्न औषधि काल है।
- 2.अन्नादौ (प्रागभक्त) – औषधि के पीछे अन्न खाये।
- 3.मध्ये – आधा भोजन के बाद औषधि लेना।
- 4.ग्रासे – प्रत्येक ग्रास में मिलाकर औषधि लेना ग्रासे काल है।
- 5.अन्त में – भोजन के अन्त में औषधि लेना
6. कवलान्तर – ग्रासों के मध्य में औषधि ली जाती है।
- 7.मुहुँ औषध – भोजन करने या न करने पर जो औषधि बार-बार ली जाती है वह मुहुँ औषधि कहलाती है।
- 8.सान्न्म् – आहार में मिलाई गयी औषधि सान्न्म् औषधि कहलाती है।
- 9.सामुद्ध (सम्पुट) – पहले औषधि फिर भोजन फिर औषधि इसे सम्पुट औषधि कहते हैं।
- 10.दिनान्त – सोते समय जो औषधि दी जाये वह दिनान्त औषधि हैं।

अन्नकाल—कफ की अधिकता में रोग एवं रोगी के बलवान होने पर औषधि खाली पेट देनी चाहिए ।

- | | | |
|-----------------------------|---|---|
| अपान वायु के कुपित होने पर | – | अन्न के प्रारम्भ में औषधि देनी चाहिए |
| समान वायु कुपित होने पर | – | अन्न के मध्य में औषधि देनी चाहिए |
| व्यान वायु के कुपित होने पर | – | प्रातः भोजन के अन्त में औषधि देनी चाहिए |
| उदान वायु के कुपित होने पर | – | सांयःकाल भोजन के अन्त में औषधि देनी चाहिए |

प्राण वायु कृपित होने पर — ग्रास मे मिलाकर ग्रासों के बीच मे औषधि
देनी चाहिए

विष, वमन, हिक्का, प्यास, श्वास-कास के उपचार में बार-बार औषधि देनी
चाहिए।

अरोचक — अनेक प्रकार के अन्न के साथ मिलाकर (सान्न) औषधि देनी चाहिए।

कम्प, आक्षेपक, हिक्का में —स्वल्प भोजन के साथ (सामुद्ध) (भोजन पूर्व एवं पश्चात)
औषधि देनी चाहिए

उर्ध्वजत्रुगत रोगों में — सोते समय औषधि देनी चाहिए।

इकाई – 2

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त

आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के सभी आचार्यों ने स्वस्थ रहने के कई उपाय बताये हैं जिनका पालन कर व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है और आगुंतक रोगों से बचाव भी कर सकता है।

दिनचर्या – प्रतिदिन करने योग्य चर्या दिनचर्या कहलाती है। “चर्या” का अभिप्राय है जो इस लोक तथा परलोक में लाभप्रद हो। उत्तम आचरण से ही दीर्घायु प्राप्त होती है। आचार एवं विचार इन दोनों का उत्तम होना आवश्यक है।

‘आचार’ शब्द में आहार एवं विहार दोनों का ग्रहण होता है।

ब्राह्ममुहूर्त में जागरण का महत्व – ‘ब्रह्म’ ज्ञान एवं परमात्मा को कहते हैं। ज्ञान के अध्ययन के लिए तथा ईश्वर स्मरण के लिए योग्य समय ब्राह्ममुहूर्त होता है। इस समय उठकर परमात्मा का ध्यान तथा विद्याध्ययन करना चाहिए। प्रातःकाल को ‘अमृत बेला’ कहा गया है। शुद्ध वायु, शुद्ध जल, शुद्ध भूमि, विपुल प्रकाश एवं विपुल आकाश ये ही प्रकृति के पंचामृत हैं। प्रातःकाल ही स्वच्छ एवं प्रदूषण रहित अवस्था में ये पांचों मिल सकते हैं। इस प्रातः कालीन पंचामृत को त्यागने वाले लोग आरोग्यवान्, भाग्यवान तथा ज्ञानवान नहीं हो सकते हैं। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि प्रातः कालीन सूर्य की रश्मियों से व्याधियों नष्ट होती हैं।

आधारणीय वेग – मल एवं मूत्र – मल एवं मूत्र के वेग को धारण नहीं करना चाहिए। इन दोनों के वेग को आधारणीय वेग कहा गया है। मौन होकर ही मल एवं मूत्र का उत्सर्जन करना चाहिए। इस समय ध्यान अन्य किसी कार्य में नहीं लगाना चाहिए, न आते हुए मल-मूत्र के वेग को प्रयत्नपूर्वक त्यागना नहीं चाहिए।

मलोत्सर्ग के समय अन्य विषयों को सोचने से मलत्याग काफी विलम्ब से होता है। आते हुए मल के वेग को रोकने से पिण्डालियों में ऐंठन, प्रतिश्याय, शिर में वेदना तथा मुखदुर्गन्धता होती है। प्रयत्नपूर्वक मलोत्सर्ग करने से अर्श हो जाता है।

मूत्रवेग रोकने से बस्ति और लिंग में शूल, शिर में वेदना, मूत्रकृच्छ शरीर का दर्द के कारण आगे की ओर झुक जाना और वंक्षण प्रदेश में आनाह जैसे लक्षण प्रकट होते हैं।

अतः स्वास्थ्य की कामना करने वाले व्यक्ति को मल एवं मूत्र के वेग को धारण नहीं करना चाहिए। वेग के उपस्थित होते ही मल-मूत्र त्याग करना चाहिए।

आचमन (मुख प्रक्षालन) – मल,मूत्र,नेत्र,कर्ण आदि के मलों, शरीर से कटकर गिरे हुए केशों एवं नखों को स्पर्श करके, भोजन करने के पूर्व भोजन करने के पश्चात्, सोकर उठने के पश्चात् छींक आने पर, देवपूजन से पूर्व, सड़क से घूमकर घर में आने पर, उत्तर की ओर मुख करके अथवा पूर्व दिशा की ओर मुख करके आराम से बैठकर जल लेकर आचमन करना चाहिए। दोनों हाथों को धोकर आचमन करना चाहिए। अंगुष्ठमूल को ब्रह्मतीर्थ कहा गया है तथा अंगुलियों का अग्रभाग देवतीर्थ है। अतः आचमन के समय अंगुष्ठमूल तक जल लेने का विधान है। प्रातःकाल मुख में पानी भरकर शीतल जल के छींटे नेत्रों में मारने चाहिए। ग्रीष्म एवं शरद ऋतु में शीतल जल से एवं अन्य ऋतुओं में किंचित उष्ण जल से छींटे मारने चाहिए।

नेत्रों पर प्रतिदिन शीतल जल से छींटे मारने से दृष्टि दोष शीघ्र नहीं हो पाते हैं तथा नेत्रों की रोशनी बहुत दिनों तक ठीक बनी रहती है। आचार्य सुश्रुत का कहना है कि आँवला, लोध्र की छाल के क्वाथ, वट, गूलर आदि क्षीरीवृक्षों की छाल के कषाय अथवा इस कषाय में दूध मिलाकर या शीतल जल से मुख एवं नेत्रों का प्रक्षालन करना चाहिए। इससे नीलिका (झाँड़ी), मुखशोष, पिड़िकाएं, व्यंग तथा रक्तपित्त जनित व्याधियाँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं तथा सूक्ष्म वस्तुएं आसानी से दिखलायी पड़ती हैं।

मुख प्रक्षालन के अनन्तर देवताओं एवं वृद्धजनों को प्रणाम करना नहीं भूलना चाहिए।

दन्तधावन – खदिर, अपामार्ग, अर्जुन, बबूल, निम्ब करंज आदि वृक्षों की कोमल टहनियों द्वारा (जिसकी लंबाई 12 अंगुल हो) दातौन करनी चाहिए। दातौन का अग्रभाग सीधा, ग्रन्थिरहित तथा मोटाई कनिष्ठ अंगुली के अग्रभाग के समान मोटी, सुन्दर एवं कूची हुई होनी चाहिए। रस में कषाय, कटु एवं तिक्त होनी चाहिए। खदिरादि वृक्षों में

कुछ ऐसे क्षारीय तत्व एवं तैल होते हैं जो दन्त दार्ढ्यकर, कृमि, गंधनाशक, जन्तुघ्न, व्रणरोपक तथा रक्तरोधक होते हैं। निम्ब में मार्गोसीन नामक तिक्त घटक तथा बीज तैल में सल्फर होता है, जो कि कृमिघ्न है। बबूल में टैनिन, अरेविक एसिड, कैल्शियम तथा मैगनीशियम होता है। करंज में करंजिन नामक सक्रिय तत्व होता है, जिसकी क्रिया मुख्यतः जन्तुघ्न होती है।

दांतौन करने के पश्चात् त्रिफला एवं त्रिजात के चूर्णों के मिश्रण को शहद में मिलाकर दाँतों पर मलना चाहिए। मसूड़ों को बिना बाधा पहुँचाये दातौन करनी चाहिए। दातौन करने के पश्चात् जिह्वा निर्लेखन द्वारा जिह्वा को सुखपूर्वक साफ करना चाहिए। इस प्रकार दातौन एवं जिह्वा निर्लेखन द्वारा मुख की मलिनता, वैरस्यता, दुर्गन्धता, जिह्वारोकग, मुखरोग एवं दंतरोग नहीं होते हैं। आहार में रूचि, मुख में स्वच्छता एवं लघुता हो जाती है।

प्रतिसारण (मंजन/टूथ पाउडर) –

औषधि को अंगुलियों से मुख के भीतरी सतह पर मलने को प्रतिसारण कहते हैं। प्रतिसारण तीन प्रकार का होता है –

1. रसक्रिया
2. कल्क
3. चूर्ण

जिन द्रव्यों से गण्डूष बनाया जाता है, उन्हीं द्रव्यों से प्रतिसारण का निर्माण किया जाता है।

- दातौन निषेध –
1. अजीर्ण (जिनका भोजन न पचा हो) से पीड़ित
 2. वमन से पीड़ित
 3. श्वास से पीड़ित
 4. कास से पीड़ित
 5. ज्वर ग्रस्त (जिनका शोधन चिकित्सा की गई हो)

6. अर्दित के रोगी

अंजन कर्म –

अंजन से लाभ – सौवीर अंजन में नेत्र सुन्दर तथा सूक्ष्म पदार्थों को देखने योग्य हो जाते हैं। नेत्र निर्मल हो जाते हैं तथा पलकें चिकनी एवं घनी हो जाती हैं। इसका प्रयोग नित्य करना चाहिए। स्त्रोतों जन दाह, कण्डू तथा नेत्र के मल को नष्ट करता है, नेत्रों की चिपचिपाहट एवं वेदना को शान्त करता है। नेत्र में तेज आता है, नेत्र वायु तथा धूप को सहने में समर्थ होता है।

रसांजन – दारुहल्दी के क्वाथ से घनसत्व करके बनाया जाता है। पाँचवें दिन अथवा आठवें दिन नेत्र का दूषित अश्रु निकालने के लिए रसांजन का प्रयोग करना चाहिए।

नस्य – अंजन के पश्चात् अणु तैल का नस्य लेना चाहिए। नस्य सेवन करने से त्वचा, कन्धा, ग्रीवा, सुगन्धित बना रहता है। स्वर स्निग्ध तथा इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं। त्वचा पर झुर्रियाँ, केशों में श्वेतता तथा व्यंग (झाँईयाँ) नहीं होती हैं।

गण्डूष – नस्य के पश्चात् गण्डूष धारण करना चाहिए। स्नेह गण्डूष धारण करने से ओष्ठ का फटना, खुरदार रहना, मुख का सुखना, दांतों के रोग नहीं होते हैं। विभिन्न औषधि वृक्षों की छाल के हिम कषाय का कवक धारण करने से अरुचि, मुख की विरसता, मलिनता, दुर्गन्धता एवं लालास्राव का निकलना नष्ट हो जाता है। जिस व्यक्ति को गण्डूष करना हो, वह वायु रहित स्थान में एवं धूप में एकाग्रचित होकर सुखपूर्वक बैठ जाये तथा पहले गला, कपोल एवं ललाट का स्वेदन कर ले। तत्पश्चात् गण्डूष को मुख में धारण करे।

कवक – औषधि की जो मात्रा मुख में रखकर इधर से ऊधर घुमाई जा सके, वह कवक होता है।

औषधि की जो मात्रा केवल मुख में रखी जाये तथा इधर से ऊधर न घुमाई जा सके, वह गण्डूष होता है।

धूमपान – आयुर्वेद में विभिन्न रोगों विशेष कर ऊर्ध्वजन्तुगत रोगों के शमन हेतु धूमपान का निर्देश किया गया है।

विधि – सर्वप्रथम 3 इंच सूती कपड़े पर हरिद्रा एवं घृत का लेप बनाकर उसे सुखाकर पुनः लेप करना चाहिए तथा सूख जाने पर सरकण्डे अथवा केवल उक्त वस्त्र को बीच में खाली रखते हुए गोलाई में मोड़ देना चाहिए जिसे आवश्यकता पड़ने पर धूमपान के रूप में अग्नि से जलाकर प्रयोग किया जाता है।

प्रयोग विधि – धूमपान हेतु निर्मित वर्ति को आगे से जलाकर नाक के द्वारा सॉस अंदर खींचते हुए धूम मुँह में आने पर उस धूम को मुँह से छोड़ा जाता है। ऐसा बारी-बारी दोनों नासारन्ध्रों से किया जाता है। धूमपान से विभिन्न प्रकार के कफ रोग नष्ट होते हैं।

प्रसाधन – शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों का लेप तथा पुष्पमालाओं का धारण सुगन्धकारक, पौरुषकारक, आयुष्य, सौन्दर्यप्रद, पुष्टिकारक, निर्धनतानाशक तथा बलप्रद होता है। मन को प्रसन्न करने वाला एवं शोभाजनक होता है।

अभ्यंग – ऋतु के अनुसार वातनाशक, सुगन्धित, सुखकारक तैल से अभ्यंग करना चाहिए। अभ्यंग वायुनाशक शरीर को पुष्ट करने वाला, निद्रा लाने वाला, शरीर को मजबूत करने वाला, थकावट, मानसिक अवसाद व वृद्धावस्था को नष्ट करता है। शरीर पर तैल का अभ्यंग करने से सन्धियों में आकुंचन एवं प्रसारण सरलता से होता है तथा त्वचा कोमल एवं दृढ़ हो जाती है।

अभ्यंग का निषेध – कफ दोष से पीड़ित रोगी में, वमन–विरेचन आदि संशोधन कर्म के पश्चात् तथा अजीर्ण रोग में अभ्यंग नहीं करना चाहिए।

मूर्धतैल – सिर पर तैल के प्रयोग करने को मूर्धतैल कहते हैं। सिर पर तैल लगाना केशों के लिए हितकर, कपालास्थिसयों तथा इन्द्रियों को तृप्तिरक करने वाला, शिरःतोद, शिरोदाह, स्फुटन, अरूषिका, खालित्य, पालित्य आदि को दूर करने वाला है।

व्यायाम – जिस क्रिया को करने से शरीर में श्रम उत्पन्न हो, उसे व्यायाम कहते हैं। व्यायाम करने से शरीर में लघुता, कार्य करने की शक्ति तथा पाचक अग्नि प्रदीप्त होती है। मेदोधातु का क्षय होता है। प्रत्येक अंग–प्रत्यंग की मॉसपेशियाँ पृथक्–पृथक् स्पष्ट हो जाती हैं तथा शरीर घन (ठोस) हो जाता है।

व्यायाम का निषेध – वातपित्त का रोगी, बालक, वृद्ध तथा अजीर्ण रोगी को व्यायाम नहीं करना चाहिए।

व्यायाम का परिणाम – बलवान एवं स्निग्ध भोजन करने वाले को शीत काल एवं बसंत ऋतु में अर्ध शक्ति भर व्यायाम करना चाहिए। अन्य ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद) में स्वल्प व्यायाम करना चाहिए।

उद्धर्तन – व्यायाम के पश्चात् कफहर (कषाय–तिक्त) द्रव्यों से उद्धर्तन (उबटन) करना चाहिए। उद्धर्तन मेदोधातु का विलयन, अंग प्रत्यंग को दृढ़ तथा त्वचा को कौत्तिमान करता है।

उद्घर्षण एवं उत्सादन करने से त्वचा में स्थित सिराओं को मुख खुल जाते हैं तथा त्वचागत भ्राजक पित्त दीप्त हो जाता है। शरीर में प्रहर्ष, सौभाग्य, शुद्धि तथा लघुता आदि गुण आते हैं।

जौं या चने के आटे को तेल और दही मिलाकर शरीर पर मलना उद्धर्तन तथा केवल चने या जौ के आटे से शरीर को सूखा मलना उद्घर्षण है।

स्नान – स्नान जाठराग्निदीपक, आयुष्य, ओजप्रद तथा बलप्रद होता है और कण्डू, मल, श्रम, स्वेद, तन्द्रा, प्यास, दाह तथा बुरी भावना को नष्ट करने वाला होता है।

उष्ण जल से अधःकाय का स्नान बलाकारक होता है, किन्तु उष्ण जल से सिर का स्नान करने से केशों एवं नेत्रों को हानि पहुँचती है। सिर को बिना भिगोये स्नान नहीं करना चाहिए।

स्नान के पश्चात् अनुलेपन का प्रयोग करना चाहिए। चंदन आदि सुगंधित एवं वर्ण प्रसादक द्रव्यों का शरीर पर लेप करना अनुलेपन कहलाता है। अनुलेपन सौभाग्य कारक, वर्ण उत्पादक, प्रीति, ओज एवं बलवर्धक है। यह स्वेद, दौर्गन्धव, विवर्णता, एवं श्रम को नष्ट करता है।

भोजन विधि – भोजन करने से पूर्व अभिनन्द्य भोजन को नमस्कार करके, प्रसन्न होकर, भोजन को आग में हवन करके, पवित्र, एकाग्र स्थान में जल सहित भोजन रखकर यह कहें कि सब प्राणियों के सुख के लिए मैं यह अन्न और जल दान कर रहा हूँ ऐसा कहकर ही भोजन करना चाहिए।

आयुर्वेद में समय पर सात्म्य, पवित्र, हितकारी, स्निग्ध, ताजा, लघु, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, रसयुक्त, न बहुत शीघ्रता से, न बहुत देर से, प्रसन्न होकर भोजन करने का विधान है। आहार एवं स्वास्थ्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ रहने के लिए ताजा एवं मात्रापूर्वक भोजन करना चाहिए। मात्रा का निर्धारण प्रत्येक व्यक्ति के अग्निबल पर निर्भर करता है।

स्नान के अयोग्य – 1. अर्दित से पीड़ित

2. नेत्र रोग से पीड़ित

3. मुखरोग से पीड़ित

4. कर्णरोग से पीड़ित

5. अतिसार से पीड़ित

6. आध्मान (जिसका पेट फूल रहा हो) से पीड़ित

7. पीनस (जीर्ण जुकाम) से पीड़ित
8. अजीर्ण से पीड़ित
9. भोजन ग्रहण के तुरन्त बाद वाले व्यक्ति

उपरोक्त अवस्थाओं से युक्त व्यक्तियों में स्नान करने से रोग वृद्धि की संभावना रहती है।

सद्वृत्त – आयुर्वेद में सद्वृत्त का उपदेश दो रूपों में किया गया है –

हिताभिलाषी मनुष्य के लिए क्या विधेय और क्या निषेधनीय है ?

विधि एवं निषेध के द्वारा सद्वृत्त का उपदेश मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ क्रियाएँ बतलायी गयी हैं, जिनमें तत्पर रहना सद्वृत्त कहा गया है। मानव के स्वास्थ्य संरक्षण के लिए सद्वृत्त नितांत आवश्यक है।

आचार्य चरक ने सद्वृत्त के दो लाभ बतलाये हैं – 1. आरोग्य तथा 2. इन्द्रियविजय। सद्वृत्त का प्रभाव मन एवं शरीर दोनों पर होता है। मनोविकारों की उत्पत्ति में रज एवं तम सहायक होते हैं और वे पुनः वात, पित्त, एवं कफ को दूषित करते हैं। सद्वृत्त के पालन करने से सत्व गुण की स्थिति बनी रहती है। मन की रज एवं तम में प्रवृत्ति नहीं होती है।

निम्नलिखित दस प्रकार के पापकर्मों को शरीर, वाणी एवं मन से त्याग देना चाहिए। – (क) शरीर से – 1. हिंसा 2. स्तेय (चोरी) 3. परस्त्री गमन (ख) वाणी से – 4. परनिंदा 5. कठोर वचन 6. असत्य वचन 7. असम्बद्ध प्रलाप (ग) मन से – 8. पर अनिष्ट 9. दूसरे का धन पाने की चाह 10. शास्त्र में विपरीत बुद्धि।

शास्त्रों में 'आचार; प्रथमों धर्म;' से सदाचार को प्रथम श्रेणी का धर्म कहा गया है। सद्वृत्त का पालन करने से शरीर को रागों से दूर किया जा सकता है और रोगों की उत्पत्ति होने पर उनके शमन में सहायता भी होती है। अतः सद्वृत्त के पालन से रोगों का मूल नष्ट हो जाता है तथा बिना किसी व्यय के स्वस्थ रहा जा सकता है। रात्रिचर्या – सायं काल शीघ्रपाकी, पथ्य भोजन करके, मन का समाधान करके और पवित्र होकर, ईश्वर स्मरण करके, अपनी शय्या पर शयन करना चाहिए। सोने का स्थान अपवित्र एवं भीड़-भाड़ वाला नहीं होना चाहिए। सोने का स्थान, शय्या एवं

तकिया से युक्त, पर्याप्त लम्बा चौड़ा, सममतल तथा सुखदायक होना चाहिए। शयन आसन जानुभर ऊँचा, कोमल एवं शुभ होना चाहिए।

सोते समय सिर पूर्व या दक्षिण दिशा की ओर होना चाहिए। गुरु या इष्ट देव की तरफ पाँव नहीं होना चाहिए।

युक्त निद्रा के गुण – सुख–दुख, पुष्टि, कृशता, बल, निर्बलता, धातुसाम्य, उत्साह, वृषता, क्लीवता, ज्ञान–अज्ञान, जीवन और मरण ये सब नींद के अधीन हैं।

युक्ति संगत निद्रा शरीर को सुख और आयु से युक्त करती है। देह धारण के लिए जिस प्रकार आहार आवश्यक है, उसी प्रकार निद्रा भी आरोग्यप्रद कही गयी है। इसलिए रात को यथासमय सात्म्यानुसार निद्रा का सेवन करना चाहिए।

भोजनोपरांत नींद वात व पित्त का शमन, कफ की उत्पत्ति और शरीर में पुष्टि एवं सौख्य का विस्तार करती है।

भोजन करते ही सो जाने से कुपित कफ अग्नि (पाचन शक्ति) का नाश कर डालता है। अतः भोजनोपरांत लगभग एक घण्टे बाद सोना चाहिए।

असमय सोने से मोह, ज्वर, शरीर में गीलापन के समान प्रतीति, जुकाम, सिर दर्द, शोथ, जी मचलाना, स्रोतों की रूकावट और अग्निमान्द्य होता है।

आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त (2)

स्वास्थ्य परिरक्षण हेतु स्वस्थ पुरुष को नित्य सोकर उठने के बाद जो कर्म करना चाहिए उसे ही स्वस्थवृत्त कहते हैं। स्वस्थवृत्त पालन से रोगों को दूर रखते हुए आरोग्य पूर्वक सप्रयोजन जीवनयापन किया जा सकता है और त्रयैषणा एवं पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति की जा सकती है। यही आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य है। पृथ्वी पर कोई भी प्राणी अमर होकर नहीं उत्पन्न होता अतः मृत्यु से त्राण नहीं मिल सकता परन्तु रोग दूर किये जा सकते हैं। इसी उद्देश्य से आयुर्वेद शास्त्र तथा स्वस्थवृत्त विज्ञान का विकास किया गया है। इसी प्रयोजन पर बल देने हेतु चरकसंहिता में कहा गया है कि संसार में सब कुछ छोड़कर स्वशरीर का पालन करना

चाहिए क्योंकि शरीर ही सर्व सुख—दुख के भोग का माध्यम है। जिस प्रकार नगरस्वामी नगर तथा सारथी रथ की रक्षा में सदा तत्पर रहता है उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को अपने शरीर की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए।

चक्रमण

चक्रमण लघु व्यायाम है। कृश तथा दुर्बल व्यक्तियों में, जहाँ पूर्ण व्यायाम निषिद्ध है, चक्रमण उपयोगी है सुश्रुतसंहिता में इसकी स्वस्थवृत्तक उपयोगिता का उल्लेख है। चक्रमण शरीर के लिए अधिक पीड़ाकर नहीं होता है और आयुबल, मेघा तथा अग्नि को बढ़ाने वाला होता है तथा इन्द्रियों को चैतन्य करने वाला होता है। अत्यध्व का प्रभाव चक्रमण के विपरीत होता इससे जरा तथा दौर्बल्य बढ़ता है।

क्षौरकर्म

नित्य व्यायाम के समान ही नियमित रूप से क्षौरकर्म शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य तथा मानवोचित सौन्दर्य के लिए आवश्यक होने से उसका स्वस्थवृत्तक महत्व है और वह दिनचर्या का अंग है। चरकसंहिता—सूत्रस्थान के मात्राशितीय अध्याय में केश श्मश्रु—नखादि कर्त्तन को 1. पुष्टि कर, 2. वृष्य, 3. आयुष्य, 4. शुचिकर तथा 5. सौन्दर्यवर्धक कर्म कहा गया है। सुश्रुतसंहिता में भी स्वस्थवृत्त के प्रसंग में क्षौरकर्म का उल्लेख करते हुए केश नख रोमापमार्जन को 1. पापोपशमन, 2. हर्षोत्पादक 3. लाघवकर, 4. सौभाग्यकर तथा उत्साहवर्धक माना गया है। अतः नियमित रूप से क्षौरकर्म करना चाहिए। एक पक्ष में तीन बार केश—श्मश्रु नख रोमादि कर्त्तन करवाना चाहिए। अपने हाथ से या दाँत से केश श्मश्रु नखादि को कभी भी नहीं कुतरना चाहिए। क्षौरकर्म के बाद स्नान करना चाहिए।

शिरोभ्यंग के साथ—साथ केश्या (कंघी) का प्रयोग करना चाहिए। यह केश प्रसाधनी तथा केशों की धूलि, जन्तु एवं मल का नाश करती है।

प्रतिदिन कर्णतर्पण अर्थात् कर्णाभ्यंग करने से वातज कर्णरोग तथा मन्यास्तम्भ, हनुस्तम्भ प्रभृति रोग नहीं होते। साथ ही उच्चश्रुति तथा बाधिर्य नहीं होता। अतः नित्य कर्णाभ्यंग करना चाहिए।

शिरोभ्यंग तथा कर्णाभ्यंग के समान ही पादाभ्यंग का भी विशेष निर्देश दिया गया है। पादाभ्यंग से 1. पादखरत्व 2. पादस्तब्धता 3. रौक्ष्य 4. सुप्ति तथा 5. श्रम या थकावट सद्यः शान्त हो जाते हैं। पादाभ्यंग से पैरों में 1. सौकुमार्य 2. बल 3. स्थैर्य, 4. दृष्टिप्रसाद एवं 5. वातप्रकोप का प्रशमन हो जाता है। पादाभ्यंग से गृध्रसी आदि वातरोग नहीं होते, पैरों में स्फुटन तथा पादगत शिरा स्नायु संकोच नहीं होता।

निम्नलिखित व्यक्ति अभ्यंगानार्ह कहे गये हैं – 1. नव ज्वरपीडित 2. अजीर्ण पीडित 3. वमन विरेचन निरूह किये हुए 4. संतर्पण जन्य रोग ग्रस्त अवस्थाओं में अभ्यंग करने से तत्तद् रोग कष्टसाध्य हो जाते हैं। अग्निमांघ हो जाता है तथा संतर्पण जन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

शरीर –परिमार्जन

शरीर–परिमार्जन उद्वर्तन, उत्सादन, उद्घर्षण तथा फेनक एवं अन्य शरीर परिमार्जनात्मक विधियों का नियमित प्रयोग स्वास्थ्य के लिए हितकर है।

उद्वर्तन या उबटनकर्म वातनाशक, कफ मेदविलापन अंगों के लिए स्थैर्यकर तथा त्वक्प्रसादक हैं स्नेहकल्क के साथ अंगों के उद्घर्षण को उद्वर्तन कहते हैं।

स्नेहकल्केन उद्घर्षण उद्वर्तनत्। 2. उद्घर्षण एवं उद्वर्तन से त्वग्गत शिराओं के मुख का खुलना, त्वग्गत अग्नि अर्थात् भ्राजक पित्त की दीप्ति निश्चित रूप से होती है।

उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेष रूप से कान्तियुक्त हो जाता है। शरीर में प्रहर्ष, सौभाग्य, शुद्धि, लघुता आदि गुण प्राप्त होते हैं। उद्घर्षण कण्डू कोठ तथा वायु को नष्ट करता है। अश्वगन्ध औषधि चूर्णादि के साथ अंगों को मलना ही उद्घर्षण या उत्सादन है – अस्नेहोषधचूर्णादिभिर्घर्षण उत्सादम्। 3. फेनक रीठे या आँवले आदि के पानी से या साबुन से अंगों को धोना शरीरपरिमार्जनात्मक कर्म है। सुश्रुत के अनुसार फेनक जंघाओं में स्थैर्य तथा लाघवोत्पत्ति के साथ–साथ कण्डू, कोठ, वायु, स्तम्भ तथा

मलजन्य विकारों को नष्ट करता है। त्वग्गत अग्नि दीप्त होती है तथा शिराओं के मुख खुल जाते हैं। 4. इष्टिका चूर्ण उद्घार्षण से कण्डू तथा कोठ समाप्त हो जाते हैं। अतः इन शरीरपरिमार्जनात्मक उपायों का यथाविधि प्रयोग दिनचर्या का अंग मानकर करना चाहिए।

अनुलेपनादि

निर्मल वस्त्र धारण करना काम्य, यश एवं आयुवर्धक, अलक्ष्मीघ्न, हर्षकारक तथा बड़े लोगों के बीच बैठने की योग्यता प्रदान करता है। शयन, निर्गम (बाहर निकालना) तथा देवतार्चन के समय पहनने के लिए भिन्न-भिन्न वस्त्र होना चाहिए।

शीतकाल में कौषेय, गर्मी में कषाय तथा वर्षा ऋतु में श्वेत वस्त्र धारण करना वांछनीय है (क्षेमकुतूहल)। कभी भी मलिन वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए क्योंकि मलिन वस्त्र कण्डू, कृमि, ग्लानि तथा अलक्ष्मीकारक भावों में प्रधान है। वाग्भट ने भी जीर्ण, मलिन तथा रक्तोत्वर्ण वस्त्र को निषिद्ध बताते हुए कहा है कि दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त अलंकार, माला, हार गले द्वारा प्रयुक्त वस्त्रों को यथाविधि धुलाई कर, धूप दिखाकर तथा पोंछकर स्वस्थ एवं पवित्र कर लेना चाहिए। सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान में सामान्य वस्त्र धारण के अतिरिक्त उष्णीष धारण की स्वस्थवृत्तक प्रसंग में वरीयता से उल्लेख किया है।

सन्ध्योपासन एवं योगाभ्यास

प्रतिदिन प्राणायाम, सूर्योपासन एवं गायत्री मंत्र जाप तथा इष्टदेव अर्चना करनी चाहिए। प्रातः काल की संध्या तथा अन्य संध्याओं को यथोचित समय से करते हुए सूर्य के समान ही ऋषियों ने दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त किया था। प्रच्छन्न पापकर्मी जप से, वेदवित् तप से, विद्वान् क्षान्ति अर्थात् क्षमा से तथा अकार्यकरती दान करने से शुद्ध होते हैं। उत्तम मनोदैहिक स्वास्थ्य के लिए नित्य सन्ध्योपासन एवं योगाभ्यास करना हितकर है। अष्टांग योग विधि सहित योगाभ्यास का

पूर्ण विवरण इस पुस्तक में अन्यत्र योग के प्रसंग में किया गया है। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है कि योगाभ्यास भी दिनचर्या का अंग होना चाहिए।

त्रय उपस्तम्भ

आहार, निद्रा, एवं ब्रह्मचर्य — ये तीन उपस्तम्भ कहे गये हैं। इनका युक्तिपूर्वक सेवन दिनचर्या का महत्वपूर्ण अंग है। इनके समुचित सेवन से शरीर उपस्तम्भ अर्थात् स्थैर्य को प्राप्त होकर सार्थक होता है, इसलिए इन्हें उपस्तम्भ कहा गया है। आहार तथा रात्रिचर्या के प्रसंग में इनका फिर से विशेष उल्लेख करेंगे।

रात्रिकालीन भोजन — रात्रिकालीन भोजन रात्रि के प्रथम प्रहर में ग्रहण कर लेना चाहिए। रात्रि का भोजन मात्रा में कम तथा सुपाच्य होना चाहिए।

शयन — भोजन के उपरान्त प्रसन्न मन से एवं स्वच्छतापूर्वक, पवित्र तथा विस्तृत स्थान में दो — तीन परिचारकों के साथ, अच्छे, सुखदायक, अविषम् तथा जानुतुल्य ऊँचाई वाले शयनासन पर पूर्व या दक्षिण की सिर करते हुए शयन करना चाहिए। आचार्यों ने रात्रि में स्वस्थ मन एवं शांतिपूर्वक शयन का निर्देश किया है। ग्रीष्म के अतिरिक्त सभी ऋतुओं में दिवास्वप्न निषिद्ध है।

ऋतुचर्या

काल प्रविभागों का स्वास्थ्य तथा स्वस्थवृत्त से सीधा सम्बन्ध है। आदान, विसर्गकाल तथा शास्त्रोक्त षड्ऋतुओं के अनुसार स्वास्थ्य परिरक्षणार्थ ऋतु सम्बन्धी स्वस्थवृत्त का आयुर्वेद में विस्तृत उल्लेख है। आचार्यों ने काल को स्वयम्भू, अनादि, मध्यरहित एवं अनन्त माना है।

इसी में रसों की व्युत्पत्ति, संपत्ति एवं मनुष्यों का जीवन—मरण निहित है।

संवत्सर आत्मा वाले उस काल को भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से उसके

- | | | |
|---------------|-------------|---------|
| 1. अक्षिनिमेष | 2. काष्ठा | 3. कला |
| 4. मुहूर्त | 5. अहोरात्र | 6. पक्ष |
| 7. मास | 8. ऋतु | 9. अयन |

(दक्षिणायन –उत्तरायण अर्थात् आदान, विसर्गकाल) 10 – वर्ष एवं युग ये विभाग–प्रविभाग करते हैं।

माघादि बारह महीनों में दो-दो मास के एक-एक ऋतु के क्रम से छः ऋतुएँ होती हैं। 1. शिशिर 2. बसन्त 3. ग्रीष्म

4. वर्षा 5. शरद् 6. हेमन्त

1. शिशिर – माघ, फाल्गुन

2. बसन्त – चैत्र, वैशाख

3. ग्रीष्म – ज्येष्ठ, आषाढ

4. वर्षा – श्रावण, भाद्रपद

5. शरद् – क्वार, कार्तिक

6. हेमन्त – अगहन, पौष

शीत, उष्ण और वर्षा लक्षणों वाली इन ऋतुओं से सोम द्वारा काल विभाग होकर दो अयन बनते हैं – दक्षिणायन तथा उत्तरायण। दो अयन मिलकर एक वर्ष बनता है। पाँच वर्ष का एक युग होता है। अक्षि निमेष से लेकर युग तक चक्रवत् घूमता हुआ यह काल “कालचक्र” कहलाता है।

शिशिर से लेकर ग्रीष्म तक ये तीन ऋतुएँ उत्तरायण (सुश्रुतोक्त) अर्थात् आदानकाल (चरकोक्त) और वर्षा से हेमन्त तक ही तीन ऋतुएँ दक्षिणायन (सुश्रुतोक्त) या विसर्गकाल (चरकोक्त) में आती हैं। विसर्गकाल में वायु अधिक रूक्ष नहीं बहती। विसर्गकाल में चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से सृष्टि को पूर्ण करते हुए सतत् पुष्टि प्रदान करता है। इसलिए इसे विसर्गकाल कहते हैं। यह सौम्यकाल है। इसके विपरीत आदानकाल में वायु रूक्ष होती है, सूर्य बली होती है। अतः यह आग्नेय काल होता है और सृष्टि से रस शोषण करता है। अतः आदानकाल कहलाता है। इस काल में जीवों में दुर्बलता आती है।

चरकसंहिता में कहा गया है कि आदान और विसर्ग कालों में से प्रत्येक के मध्य में मध्य बल, विसर्ग के अन्त तथा आदान के आदि में श्रेष्ठ बल होता है एवं विसर्ग के आदि में तथा आदान के अन्त में दुर्बलता बढ़ती है।

ऋतु परिवर्तन, आदान-विसर्ग काल एवं स्वास्थ्य – आयुर्वेद में षड्ऋतुएँ दोषों के चय, प्रकोप, प्रशम होता हैं। ऋतुओं के प्रभाव से उनके गुणानुसार दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशम होता है और तदनुसार ही मनुष्य को स्वास्थ्य परिरक्षणार्थ यथायोग्य औषधि, अन्न विहारदिपूर्वक ऋतुचर्या पालन करना चाहिए। विभिन्न ऋतुओं में त्रिदोषों के संचायादि क्रम को संक्षेप में निम्नलिखित तालिका में वर्णित किया गया हैं।

ऋतुओं के अनुसार दोषों का संचय-प्रकोप-प्रशमन

ऋतु	वात	पित्त	कफ
शिशिर	प्रथम	—	संचय
बसन्त	प्रशम	—	प्रकोप
ग्रीष्म	संचय	—	प्रशम
वर्षा	प्रकोप	संचय	संचय
शरद्	प्रशम	प्रशम	संचय

संहिताओं में आदान तथा विसर्ग काल की अत्यन्त व्यवहारिक कल्पना के अतिरिक्त षड्ऋतुओं का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। पूरे वर्ष को दो-दो मास की छः ऋतुओं में विभाजित करके उन ऋतुओं में तीनों दोषों के संचय, प्रकोप तथा प्रशमन की कल्पना की गयी है और तदनुसार औषधि, अन्न तथा स्वस्थवृत्तकर उपय बताये गये हैं।

हेमन्त ऋतु में वात का प्रकोप तथा कफ का संचय होता है। हेमन्त ऋतु में वाह्य शैत्य के कारण अन्तरग्नि की वृद्धि होती है जो वातप्रकोप का हेतु बनती है। इस ऋतु में वृद्ध अग्नि के शमनार्थ गुरु आहार लेने की प्रवृत्ति होती है और यह गुरु आहार इस ऋतु में कफ संचय का कारण होता है। बसन्त ऋतु में हेमन्त में संचित कफ सूर्य की किरणों से पिघलकर प्रकुपित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वमनादि शोधन कर्मों द्वारा कफ का निर्हरण करना चाहिए अन्यथा कफज रोगों की उत्पत्ति की आंशका रहती है। वर्षा ऋतु में पिछले आदानकाल के प्रभाव से शरीर पहले से ही दुर्बल रहता

है और मन्दाग्नि हो जाती है। दुर्बल अग्नि और अधिक दुष्ट होकर वातप्रकोप करती है। इस ऋतु में वर्षा जल के अम्लविपाक के कारण पित्त संचय होता है शरद् ऋतु में सूर्य की उष्ण किरणों के प्रभाव से वर्षा ऋतु में संचित कफ शरद् में प्रकुपित हो जाता है। अतः शरद् ऋतु में मधुर एवं तिक्त रस, शीत वीर्य तथा लघु गुण और अन्य प्रकार के पित्तघ्न आहार—विहार लेने चाहिए। आचार्य चरक ने यह भी निर्देश किया है कि श्रावण, अगहन तथा नेत्र मास में क्रमशः दूषित वात, पित्त, तथा कफ का शरीर से निर्हरण करना चाहिए।

आचार्य वाग्भट के अनुसार वात का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् में, पित्त का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन में और कफ का संचय, प्रकोप एवं प्रशमन हेमन्त, बसन्त तथा ग्रीष्म में होता है। इन्हीं के अनुसार उन ऋतुओं में सद्वृत्त तथा स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार ऋतुओं का शरीर की जैविक अवस्था तथा त्रिदोषों पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। इसलिए आचार्यों ने विभिन्न ने विभिन्न ऋतुओं तथा ऋतुसन्धियों के लिए विशेष आहार—विहार की कल्पना की है, जिससे प्रत्येक ऋतु में ऋतुक्षमत्व बना रहता है। वात—पित्त कफ का ऋतुकृत संचय—प्रकोप—प्रशमन सीमित क्रम में रहे और दोषसात्म्य बना रहे, यही ऋतुचर्या का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य से तत्तद् प्रभाव वाले औषध, अन्न, विहार का सेवन उन ऋतुओं में करना चाहिए। 'ऋतुसंधि' अर्थात् ऋतुपरिवर्तनकाल (व्यतीत होने वाली ऋतु का अंतिम सप्ताह तथा आने वाली ऋतु का प्रथम सप्ताह) इस सन्दर्भ में विशेष महत्व का माना गया है। ऋतुसंधि के दो सप्ताह में उन ऋतुओं के आहार, विहार को "पादशिक क्रम" से छोड़ना व ग्रहण करना चाहिए। इससे ऋतुपरिवर्तन जन्य दोषवैषम्य नहीं हो पाता।

षड्ऋतुओं में संशोधन क्रम

षड्ऋतुओं में स्वभावतः होने वाले त्रिदोषों के संचय, प्रकोप व प्रशमन का विचार करके स्वस्थवृत्त परक संशोधन कर्म निम्नलिखित क्रम से करना चाहिए —

षड् ऋतु	संचय	प्रकोप	प्रशम	निर्दिष्ट कर्म
शिशिर	कफ	—	वात	दीपन, पाचन
बसन्त		कफ	वात	ब्धन
ग्रीष्म	वात	—	कफ	वातहर आहार—विहार
वर्षा	पित्त कफ	वात	—	वस्ति
शरद्	—	पित्त—कफ	वात	विरेचन
हेमन्त	कफ	वात	पित्त	वस्ति

हंसोदक — दिन में सूर्याशुसंतृप्त अर्थात् सूर्य की किरणों से तृप्त, रात्रि में चन्द्रांशु शीतल अर्थात् चन्द्रमा की किरणों से शीतल, शरद् ऋतुकाल से पक्व अर्थात् दोषमुक्त, अगस्त्य नक्षत्र द्वारा निर्विषीकृत, शरद् ऋतु का निर्मल और पवित्र जल 'हंसोदक' कहलाता है। यह स्नान, अवगाहन एवं पान हेतु अमृत के समान हितकर होता है।

शरद् ऋतु में उत्पन्न पुष्पों की माला, विमल वस्त्र और सांयकालीन इन्दुरश्मियाँ हितकर कही गयीं हैं। उपरोक्त ऋतुचर्या के सन्दर्भ में कहे गये भाव आहार—विहारादि 'ऋतुसात्म्य' या 'अभ्यास सात्म्य' कहा जाता है। चरकसंहिता में कहा गया है कि सात्म्यज्ञ लोग देश तथा व्याधि के विपरीत गुणों वाले आहार एवं विहार को सात्म्य मानते हैं।

षड्रसों के सेवन के विषय में ऋतुचर्या निर्देश करते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि जिन—जिन ऋतुओं में प्राणियों के जो—जो दोष प्रकृपित रहते हैं, उन—उन ऋतुओं में उन—उन दोषों के शामक रस हितकारी होते हैं। वाग्भट ने इस संदर्भ में निम्नलिखित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

1. शीत, वर्षा ऋतु — आदि के तीन रस अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण
2. बसन्त ऋतु — अन्त के तीन रस अर्थात् कटु, तिक्त, कषाय
3. ग्रीष्म ऋतु — मधुर
4. शरद् — मधुर, तिक्त, कषाय

5. शरद् बसन्त — रूक्ष द्रव्य
6. ग्रीष्म, शरद — शीत द्रव्य

इसी प्रकार जल पानी के विषय में भी ऋतुचर्यक निर्देश किये गये हैं। आचार्य सुश्रुत के अनुसार वर्षा ऋतु में यथासंभव जल नहीं पीना चाहिए। जल के स्थान पर दूसरे द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। आवश्यक होने पर मात्रावत् ही जल लें। यह बात उचित ही लगती है क्योंकि वर्षा ऋतु में जल की आवश्यकता कम हो जाती है, साथ ही साथ वर्षा ऋतु में जल प्रदूषण की संभावनाएँ अधिक होती हैं। शरद ऋतु में भी मात्रापूर्वक ही जल पीने का निर्देश है। ग्रीष्म, हेमन्त एवं बसन्त में यथा इच्छा जल पीना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में श्रुतशीत जल, प्रावृट्काल में मांसरस, वर्षा में यूष और शरद में शीतल जल पीना चाहिए।

ऋतुहरीतकी — भावप्रकाश में हरीतकी की मातृवत् हितकारी कल्पना की गई है। इसको निम्नलिखित अनुपानों सहित विभिन्न ऋतुओं में सेवन करना चाहिए।

(भा०प्र० एवं सुश्रुत)

ऋतुसन्धि — व्यतीत हो रही ऋतु के अन्तिम तथा प्रारम्भ हो रही ऋतु के प्रथम सप्ताह को (इन दो सप्ताहों को) ऋतुसन्धि कहते हैं। इस काल में जाने वाली ऋतु की विधि का त्याग और नवीन ऋतु का आचरण क्रमपूर्वक पादांशिक विधि से करना चाहिए ताकि सहसा त्याग या प्रयोग से असात्म्यजन्य रोग न होने पायें।

मानसिक सद्वृत्त

करणीय —

- (1) विवके से कार्य करें।
- (2) प्रसन्न मन रहें।
- (3) दूसरे के कटु वचन सहें।
- (4) हर्ष के वशीभूत न हों।

- (5) ईर्ष्या न करें।
- (6) चिन्ता न करें। निंदा या आलोचना की भी सतत् चिन्ता न करें।
- (7) भय न करें।
- (8) अभिमान न करें। सिद्धि प्राप्त होने पर भी अभिमान न करें।
- (9) अधिक महत्तवाकांशा न करें।
- (10) दैन्य भाव को प्राप्त न करें।
- (11) मोह एवं लालच न करें।
- (12) वैर में रूचि न रखें।
- (13) अनिष्ट करने की इच्छा या स्वयं का अनिष्ट न करें।

चारित्रिक सद्वृत्त

करणीय –

1. सत्यप्रिय एवं शान्तिप्रिय रहें।
2. विनयशील हों।
3. समयानुसार हितभाषी हों।
4. कुशल बनें।
5. क्षमा करें।
6. धैर्य रखें।
7. लज्जा करें।

अकरणीय –

1. इन्द्रियलोलुप न बनें।
2. पर-धन की इच्छा न करें।
3. नियमों का उल्लंघन न करें।
4. रहस्य न खोलें।

5. अशिष्ट लोगों का आश्रय न लें।
6. धूत तथा वेश्या प्रसंग में रूचि न रखें।
7. पर-स्त्री से संबंध न रखें।

सामाजिक सद्वृत्त

करणीय –

1. अतिथियों का सम्मान करें।
2. आचार्यों एवं सिद्ध पुरुषों का सम्मान करें।
3. वृद्ध, कुल तथा व्यय में श्रेष्ठ जनों का सम्मान करें।
4. सभी प्राणियों से आत्मीयता रखें।
5. भयभीत जनों को आश्वस्त करें।
6. दुर्गति में पड़े लोगों की रक्षा करें।

अकरणीय –

1. अव्यावहारिक न बनें तथा दुःखद व्यवहार न करें।
2. लोगों से कलह न करें।
3. श्रेष्ठ एवं योग्य लोगों से विरोध न करें।
4. स्त्री, मित्र एवं भृत्यों के साथ अधिक न रहें।
5. अधार्मिक एवं राजा के शत्रु के साथ न रहें।
6. पूज्य लोगों तथा मंगलमय पदार्थों को बाये न करें तथा विपरीत पदार्थों को दक्षिण न करें।

धार्मिक सद्वृत्त

करणीय –

1. आस्तिक बनें।

2. देव, गौ, ब्राह्मण, गुरु, सिद्ध, वृद्ध एवं आचार्य आदि की पूजा करें।
3. हवन एवं यज्ञ करें। अग्नि में जूठा न डालें।
4. दान करें।
5. जप करें।
6. मंत्रोच्चारण करें।

अकारणीय –

1. पाप न करें।
2. शव को देखकर अनादर न करें।
3. धार्मिक वृक्ष, ध्वज, गुरु, पूज्य एवं अकल्याणकारक वस्तुओं की छाया न लोंघें।

वैयक्तिक सद्वृत्त

(I) स्वच्छता सम्बन्धी सद्वृत्त

1. ऋतु के अनुसार दोनों समय स्नान करें।
2. मलत्याग के पश्चात् मलद्वार एवं प्रक्षालन करें
3. पक्ष में कम से कम तीन बार क्षौर कर्म करें।
4. स्वच्छ वस्त्र धारण करें।
5. छत्र, दण्ड, शिरोवस्त्र एवं पादत्राण धारण करें।
6. केश प्रसाधन करें।
7. नित्य तैलाभ्यंग करें।
8. औषधियुक्त धूमपान विशेषकर भोजन, पान, दन्तधावन के पश्चात् करें।
9. ध्यानपूर्वक देखते हुए चलें।
10. प्रशस्त औषधियों को धारण करें।
11. गन्दें स्थानों पर न रहें।

(II) आहार सम्बन्धी सद्वृत्त

1. अष्टविध आहारविशेषायतन का पालन करें।
 - (i) प्रकृति—गुरु, लघु आदि भोज्य पदार्थों का विचार करें।
 - (ii) करण पाकादि संस्कार का विचार करें।
 - (iii) संयोग – विभिन्न आहार द्रव्यों के हितकारी संयोग का विचार करें।
 - (iv) देश – स्थान का विचार करें।
 - (v) काल – समय का विचार करें।
 - (vi) मात्रा – उपभोक्ता के लिए उपयुक्त आहार मात्रा का विचार करें।
 - (vii) उपयोग संस्था – उपयोग के नियमों का विचार करें।
 - (viii) उपयोक्ता – उपयोग करने वाले का विचार करें।
2. भोज्य पदार्थ ताजा ही ग्रहण करें। आर्द्रक, शुष्क शाक तथा मोदक आदि पदार्थों को वासी भी प्रयोग कर सकते हैं।
3. दधि, मधु, सत्तू, घृत, लवण आदि पदार्थों के अतिरिक्त निशेष भोजन न करें।
4. भोजन करने के बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिए।
5. सत्तू यथोचित विधि से ग्रहण करें।

(III) व्यायाम सम्बन्धी सद्वृत्त

1. कष्टदायक वाहन पर न चढ़ें।
2. श्रम से पूर्व व्यायाम न करें।
3. पर्वतश्रेणी पर भ्रमण न करें।
4. वृक्ष पर न चढ़ें।
5. जल की वेगवती धारा को न रोकें।
6. घुटनों के बल अधिक न बैठें।

7. अंगों को टेढ़ा न चलायें।
8. नित्य अभ्यंग करें।

(IV) सामान्य त्याज्य वृत्त

1. मद्यपान न करें।
2. अधिक समय नष्ट न करें।
3. दीर्घ सूत्री न होवें।
4. अधिक न बोलें।
5. अधिक शयन या अधिक जागरण न करें
6. रात्रि में अनुचित स्थान पर न जायें।
7. निर्जन घर या जंगल में प्रवेश न करें।
8. हिंसक पशुओं का पीछा न करें
9. अपनी शक्ति का अपव्यय न करें।
10. नाक न सिकोड़ें व नख न बजायें।
11. प्रवृत्त मल, मूत्र के वेगों को धारण न करें

उपयुक्त सद्वृत्त पालन से मनुष्य को

1. आरोग्य एवं स्वस्थ जीवन,
2. शतायु
3. साधु पुरुषों में पूजनीय स्थान,
4. लोक में यथ तथा ख्याति
5. प्राणी की प्रीति, भोजन
6. पुण्यात्माओं के उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य चरक ने कहा है कि सद्वृत्त के अनुष्ठान से दो लाभ होते हैं।

1. अरोग्य
2. इन्द्रियों पर विजय

उपवास

भारतीय जीवनचर्या में व्रत एवं उपवास का विशेष महत्व है। यद्यपि इनका अनुपालन प्रायः धार्मिकता के नाम पर किया जाता है; परन्तु ये स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भी समय-समय पर व्रतोपवास करते रहने से अग्नि प्रदीप्त रहती है और शरीर स्वस्थ बना रहता है।

उपवास पुण्यप्रद, आमदोषहर, अनलकर, स्फूर्तिदायक तथा इन्द्रियप्रसारक माना गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को यथासमय यथाविधि उपवास करके धर्म तथा स्वास्थ्य लाभ करना चाहिए। धर्मशास्त्र में

- | | |
|--------------------|-------------------|
| 1. क्षमा, | 2. सत्य |
| 3. दान, | 4. शौच, |
| 5. इन्द्रिय-निग्रह | 6. देवपूजन |
| 7. हवन | 8. सन्तोष |
| 9. तप, | 10. आर्जव —ये सभी |

व्रतों में सेवनीय माने गये हैं।

सामान्य 1. निराहार, 2. फलाहार ये दो प्रकार के व्रत प्रचलित हैं।

निराहार व्रत श्रेष्ठ है। उसके अभाव में फलाहार व्रत सेवनीय है। निराहार व्रत भी सजल एवं निर्जल दो प्रकार का होता है।

सात्म्यादि का विचार करके इन व्रत भेदों का उपक्रम करना चाहिए। अग्निहोत्री, अशक्त तथा ब्रह्मचारी को अनुपवास्य माना गया है। सामान्यतयः जितना लंघन कराने से बल का नाश हो, उतना ही उपवास करना चाहिए।

आयुर्वेद में लंघन को षट् उपक्रमों में गिना गया है और उपवास को एक प्रकार का लंघन माना गया है। आचार्य चरक ने कहा है कि शरीर में लघुता

उत्पन्न करने वाले कर्म को लंघन कहते हैं। चार प्रकार के संशोधन कर्म (वमन, विरेचन, नस्य, निरूह-वस्ति) पिपासा, वायु, आतप, पाचन सेवन, उपवास और व्यायाम ये सभी लंघन हैं। इस प्रकार उपवास लंघन का एक प्रकार है।

आचार्यों ने कई व्याधि की अवस्थाओं को उपवासाह माना है : जैसे 1. त्वग्दोष 2. प्रमेह 3. स्निग्ध 4. अभिष्यन्द 5. बृंहण किये हुए तथा 6. वातविकार से पीड़ित रोगी को शिशिर ऋतु में विशेष रूप से लंघन कराना चाहिए। यदि कफ, पित्त और मल अत्यधिक दुष्ट न हों तो वातविकार से पीड़ित शरीर वाले व्यक्ति को उपवास करना श्रेयस्कर है। अल्पबल, कफ-पित्तजन्य रोग, वमन, अतिसार, हृद्रोग, विसूचिका, अलसक, ज्वर, विबन्ध, गौरव, उग्दार, हल्लास तथा अरोचक आदि रोगों से पीड़ित व्यक्तियों में, पिपासा, निग्रहपूर्वक उपवास कराकर रोग प्रशमन कराना चाहिए।

सुलंघित लक्षण – 1. वातमूत्रपुरीष विसर्ग 2. गात्रलाघव 3. हृदयोद्गारकण्ठस्य शुद्धि 4. तन्द्रा, क्लम का नाश, 5. रुचि वृद्धि 6. क्षुत्पिपासा सहोदय, 7. निर्व्यर्थ अन्रात्मा।

अतिलंघित लक्षण – 1. पर्वभेद 2. अंगमर्द 3. कास 4. मुखशोष 5. क्षुधा-नाश 6. अरुचि, तृष्णा 7. श्रोत्र-नेत्र दौर्बल्य 8. मन में भ्रम 9. ऊर्ध्ववात 10. तमोहृदि 11. देहाग्निबल नाश

वास स्थान

स्वास्थ्य की दृष्टि से निवास स्थान योग्य उत्तम भूमि वही है जो किंचित् नीची, शुष्क, कोष्ण तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करने योग्य हो।

निम्नलिखित प्रकार की भूमि गृह निर्माण योग्य हेतु अग्राह्य है – 1. दुर्गन्धयुक्त 2. सभा भवन, चैत्य वृक्ष, राजप्रसाद और देवमन्दिर के समीप, 3. कँटीले वृक्षों से युक्त

4. गोल, त्रिकोण विषम, कठोर, उन्नत तथा चाण्डाल वास एवं चर्मकारालय के निकट की भूमि।

सिद्धान्ततः गृह निर्माण खुले हवादार स्थान पर होना चाहिए ताकि वहाँ जल तथा अच्छी हवा मिलती रहे; वनस्पतियों उग सकें और सफाई का प्रबंध हो सके। कारखाने आदि के निकट भी आवासीय गृह निर्माण नहीं कराना चाहिए।

निवास योग्यायोग्य गृह

निवास गृह ऊँचे स्थान पर पर्याप्त ढाल वाली भूमि पर बना होना चाहिए ताकि वर्षा का जल तुरन्त निकल जाये। निवासीय गृह ताल या निम्न भूमि, धान के खेत तथा गोशाला आदि के निकट न हो। घर उत्तर तथा पूर्व मुख खुलना चाहिए ताकि पर्याप्त सूर्य का प्रकाश तथा वायु प्राप्त हो और घर में सीलन न बनी रहें। एक घर के पीछे दूसरा घर न बनाया जाये क्योंकि ऐसा करने से समानान्तर संवातन (क्रास वेण्टिलेशन) नहीं मिल पाता है।

वस्तुतः एक आरामदेह घर ऐसा होता है, जिससे सीलन बिलकुल न हो। सीलन प्रायः सीलन वाली मिट्टी के कारण, दोषपूर्ण जलनिकास व्यवस्था के कारण तथा घर के एकदम निकट वृक्षों के उगने के कारण होती है। इनसे बचना चाहिए। घर में भोजन बनाने तथा स्नान आदि की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। घर में पूरा प्रकाश तथा वायु उपलब्ध होनी चाहिए। इसमें जलनिकासी की पूरी व्यवस्था तथा आवश्यक सेनिटरी सुविधा होनी चाहिए। घर आदर्श भूमि पर स्वास्थ्यकर वातावरण में बना होना चाहिए। इसका अच्छा रख-रखाव होना चाहिए। घर में ईंधन तथा खाद्य-सामग्री रखने के लिए अलग कमरा होना चाहिए। सोने के कमरों में पर्याप्त स्थान होना चाहिए तथा जरूरत के अनुसार व्यक्तिगत तथा सामाजिक पर्दानशीनी का भी प्राविधान होना चाहिए।

पाकशाला

मकान के किसी उपयुक्त स्थान पर पाकशाला होनी चाहिए ताकि वहाँ का धूम आदि अन्य कमरों में न जाये। पाकशाला पाखाने के निकट नहीं होनी चाहिए।

इसे सड़क की ओर नहीं खुलना चाहिए अन्यथा सड़क की धूल आदि उड़कर वहाँ आयेगी। पाकशाला के धुये को बाहर निकलने के लिए छत पर चिमनी भी होनी चाहिए। अन्यत्र भी कहा गया है कि घर में अग्निकोण की दिशा में रोशनदान और जालीदार दरवाजा तथा पक्की फर्श, ऊपर आधी लिपी दीवाल वाली पाकशाला होनी चाहिए। इसे पूर्व-पश्चिम लम्बा बनाना चाहिए।

शौच-स्थान

मकान के अलग-अलग भाग में शयन कक्ष तथा पाकशाला से पर्याप्त दूरी पर शौचालय बनाना चाहिए। यहाँ से मल, मूत्र तथा उपयुक्त जल के निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसकी नित्य सफाई होनी चाहिए। जिसमें पर्याप्त जल तथा कीटनाशक रसायनों का भी प्रयोग होना चाहिए। शौचस्थान तथा शौचालय व्यवस्था सम्बन्धी स्वस्थवृत्त का विस्तृत उल्लेख इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड में किया गया है।

दुग्धाहार

दुग्ध अपने आप में पूर्ण आहार माना जाता है। व्यवहारतः बालकों के लिए यह आदर्श है, तो वयस्कों के लिए महत्वपूर्ण पूरक आहार है। दुग्ध प्रतनक में प्रायः सभी अत्यावश्यक अमिनों अम्ल उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आहार तत्व जैसे कार्बोज, वसा, लवण, विटामिन तथा जल आवश्यक अनुपात में उपस्थित होते हैं। इसलिए दूध को पूर्ण आहार माना जाता है। चूँकि दूध में विटामिन ए तथा विटामिन डी और लौह की मात्रा अपेक्षा या अल्प होती है अतः शिशुओं में दूध को पूर्ण आहार के रूप में तथा वयस्कों में पूरक आहार के लिए दूध आवश्यक आहार द्रव्य है।

आहार: – त्रिदोष एवं त्रिगुण विचार

आहार द्रव्यों के पाच्यभौतिक संगठन का शरीर के दोषों एवं धातुओं तथा मानस त्रिगुणों पर सामान्य एवं विशेष सिद्धान्तानुसार प्रभाव पड़ता है। तदनुसार ही कोई आहार द्रव्य वातज, कोई पित्तज तथा कोई कफज माना जाता है। उसी प्रकार कोई आहार सात्विक, कोई राजस तथा कोई तामस माना जाता है। आहारव्यवस्था में उपयोक्ता की प्रकृति, विकृति तथा आहारद्रव्य के गुण-कर्म की समीक्षा आवश्यक है।

इकाई – 3

सौंदर्य का आयुर्वेद एवं प्राचीन साहित्य में वर्णन

श्रृंगार-प्रसाधन-

श्रृंगार करने के निमित्त प्रसाधन तथा अलंकारों के लिए वनस्पतियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता था। कला तथा सौन्दर्य के प्रेमी कवियों ने इसका विशद वर्णन अपनी रचनाओं में किया है।

श्रृंगार-प्रसाधन के लिए वनस्पतियों का उपयोग-

प्राचीन काल में भारतीय जन प्रकृति-प्रदत्त शारीरिक सौन्दर्य से ही सन्तुष्ट न होकर कृत्रिम उपायों से इसकी वृद्धि के लिए विविध साधनों का प्रयोग करते थे। सौन्दर्य के वर्धन के लिये उपयोगी सामग्रियों पर वे प्रचुर धन का व्यय करते थे। श्रृंगार-प्रसाधन के लिए विशेष दासियाँ होती थी। इनको **सैरिन्धी(Beautician)** कहा जाता था। प्रसाधन पर केवल महिलाओं का ही अधिकार नहीं था, पुरुष भी इसके द्वारा अपने को सुन्दर दिखाने का प्रयास करते थे। विलासी जन प्रतिदिन श्रृंगार की ओर ध्यान देते थे।

प्राचीन आर्यों द्वारा जिन श्रृंगार-प्रसाधन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था, उनको मुख्य रूप से तीन वर्णों में बाँटा जा सकता है-वनस्पतिज, खनिज और प्राणिज।

प्राचीन समय में श्रृंगार-प्रसाधन के लिये वनस्पतिज द्रव्यों का प्रयोग प्राचुर्य से किया जाता था। वनस्पतियों के कोमल, सुन्दर सुरभित और मनोरम किसलयों, पुष्पों तथा फलों का प्रयोग इस प्रयोजन के लिये होता था। चन्दन, केसर, उशीर, कालेयक आदि द्रव्य अनुलेपन आदि के लिये व्यवहृत होते थे।

(क) ऋतुओं के अनुकूल वनस्पतियों से श्रृंगार-प्रसाधन-

प्राचीन मनीषियों ने जल-वायु आदि के आधार पर वर्ष का विभाजन छः ऋतुओं में किया था। विभिन्न ऋतुओं में शरीर पर वनस्पतियों का प्रभाव भी भिन्न होता है। अतः कवियों ने ऋतुओं के अनुरूप श्रृंगार करने का वर्णन किया है।

1. ग्रीष्म-ऋतु- ग्रीष्म-ऋतु में भीगे वस्त्र, कमलनाल के कंकण, शिरीष के कर्णाभूषण, विचकिल के पुष्पों की माला और शरीर पर चन्दन के प्रलेप का वर्णन राजशेखर ने किया है। अन्य स्थानों में कहा गया है कि ग्रीष्म-ऋतु में प्रतिदिन प्रचुर जल से स्नान करना, कानों में शिरीष पुष्प पहनना, सिर पर पाटल के पुष्पों की माला, कण्ठ में मोतियों का हार, कटि में मृणाल की माला, स्तनों पर चन्दन का लेप और शरीर में मंजिष्ठा के तेल की मालिश करना अच्छा होता है। सिन्धुवार और कमल-पुष्पों की माला बाँधी जाती है। युवतियों की शिरीष-पुष्पों का कर्णावितस बनाना अतिप्रिय होता है। कालिदास का कथन है कि ग्रीष्म-ऋतु में दुकूल-वस्त्र, स्तनों पर चन्दन, स्नान, चरणों पर लाक्षारस और पुष्पों के शीतल आभूषण प्रिय होते हैं। महिलायें चन्दन के ज को पंखों पर छिड़क कर हवा करती हैं और स्तनों पर हारयष्टि पहनती हैं।

2. वर्षा-ऋतु-

वर्षा-ऋतु में विविध सुगन्धित तेलों के उपयोग का वर्णन किया गया है। इनको विशेष शिल्पियों द्वारा बनवाया जाता था। स्तनों पर उशीर, चन्दन आदि द्रव्यों का लेप किया जाता था। इस ऋतु में स्त्रियाँ सुगन्धित पुष्पों के अवतंस पहनती हैं और अर्जुन की मंजरियों एवं नव विकसित कदम्बों को कर्णाभूषणों के रूप में प्रयुक्त करती हैं। कदम्ब, केसर और केतकी के पुष्पों की तथा बकुल, मालती और यूथिका की कलियों की मालायें सिर पर धारण की जाती हैं। केश-पाशों में सुगन्धित पुष्पों की मालायें गूँथी जाती हैं और काले अगर तथा चन्दन का लेप किया जाता है।

3. शरद-ऋतु-

शरद-ऋतु विशेष रूप से आह्लादक ऋतु है। वर्षा समाप्त होने पर प्रकृति अपने को नये ?रूप में सजाती है। आकाश निर्मल होता है। चारों ओर नये पुष्प विकसित होते हैं। अनङ्गहर्ष ने शरद-ऋतु के योग्य विशेष श्रृंगार का उल्लेख किया है। इस ऋतु में महिलायें कानों में केतकी के पुष्पों की पंखुड़ियों को और हाथों में मृणाल के वलयों को धारण करती हैं। अन्य पुष्पों के ?साथ नील-कमलों की पंखुड़ियों को मिला शिरोभूषण बनाये जाते हैं। शरद-ऋतु में युवतियाँ काले लम्बे केशों को आगे से घुंघराला करके उनमें नव मालती पुष्पों को गूँथती हैं। वे स्वर्ण कुण्डलों से सजे कानों में नीलोत्पल को निवेशित करती हैं। स्तनों पर लगाकर हार पहनती हैं। ?श्रोणि प्रदेश पर रशना बाँधती हैं तथा पैरों में नूपुर पहनती हैं।

4. हेमन्त-ऋतु-

हेमन्त-ऋतु में महिलायें शरीर पर कालेयक का लेप करती हैं और मुख पर विविध पत्र-रचनायें बनाती हैं। वे सिर के केशों को कालागुरु का धूप देकर सुखाती और सुवासित करती हैं।

5. शिशिर-ऋतु-

इस ऋतु में अति शीत के कारण स्त्रियाँ फटे होठों पर मदन का लेप करती हैं। सुगन्धित तेल लगाकर वेणी बाँधती हैं। मुख पर प्रभूत मात्रा में केसर लगाती हैं। इस ऋतु में जूड़ा बाँधकर उस पर मोतियों की माला लगाना और शरीर पर केसर का लेप करना उचित है। कालिदास का कथन है कि शिशिर ऋतु में भारी वस्त्र पहनने चाहिये, सुन्दर और कौशेय वस्त्र धारण करने चाहिये तथा केशों को पुष्पों से गूँथना चाहिये। इस ऋतु में पयोधरों को केसर से पिंगल करना समुचित है।

6. बसन्त-ऋतु-

बसन्त को ऋतुराज कहा गया है। इस ऋतु में वनस्पतियाँ विशेष रूप से विकसित होती हैं। अतः वनस्पतियों द्वारा श्रृंगार भी विशेष रूप से किया जाता है। कवियों ने बसन्त-ऋतु के योग्य विशेष श्रृंगार का उल्लेख किया है। युवतियाँ मुक्ता, प्रवाल, रत्नजटित रशना, हार और कोमल रेशमी वस्त्र धारण करती हैं तथा चन्दन का लेप लगाती हैं। इस समय शिशिर के योग्य वेश का परित्याग करके बसन्त के योग्य वेश-भूषा प्रयोग में लाई जाती है। कालिदास का कहना है कि बसन्त-ऋतु में स्तनों पर प्रियङ्गु-कालीयक और कुङ्कुम-कस्तूरी से युक्त चन्दन का अवलेपन करना चाहिये। लाक्षा के रंग से रन्जित और काले अगुरु से भूषित सुगन्धित हलके वस्त्र पहनने चाहिये। स्तनों पर चन्दन से सिक्त पुष्पों के हार होते हैं। सिर पर चम्पक पुष्पों से सुवासित होता है। केशों में अशोक, नवमल्लिका और कुरबक पुष्पों की माला गूँथी जाती है। कानों में नव कर्णिकार पुष्प लटकाये जाते हैं।

ख- वनस्पतिज द्रव्यों द्वारा प्रसाधन-

सौन्दर्यवर्धक साधनों को मूल रूप में दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- प्रसाधन और आभूषण। इन दोनों प्रयोजनों के लिये वनस्पतियों का प्रयोग प्रचुर रूप में प्रचलित था। इनका क्रमशः अवलोकन करना उपयोगी होगा।

प्रसाधनों के अन्तर्गत सौन्दर्यवर्धन के वे उपकरण आते हैं, जो अनुलेपन आदि के द्वारा शरीर के अंगों को सुन्दर, सुगन्धित और आकर्षक बनाते हैं। 'कामसूत्र' की 64 कलाओं में दशानवसनांगराग कला के अंराग से अभिप्राय प्रसाधन से ही है। नागरक प्रसाधन करके नित्य कार्यों में प्रवृत्त होता है। दन्त स्वच्छ करना, नियत मात्रा में अनुलेपन करना, सुगन्धित धूपों से वस्त्रों को सुगन्धित करना, मालायें धारण करना, अंजन लगाना, होठों पर लाली लगाना, दर्पण में मुख देखना और पान का जोड़ लेना उसके नित्य के कर्तव्य थे।

भारतीय-चिकित्सा-शास्त्र में 'चरक' और 'सुश्रुत' संहिताओं में प्रसाधन सामग्रियों की उपयोगिता बताई गई है। चन्दन, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन और पुष्प मालाओं का धारण आयु, सौन्दर्य और बाल को बढ़ाता है। इससे मन प्रसन्न होकर दीनता दूर होती है। भरत के नाट्यशास्त्र में प्रसाधन के विविध प्रकारों, अनेक प्रकार की चित्रकारियों और ललाट, कपोल, वक्ष आदि को सजाने का निर्देश है। आँखों में अंजन लगाने और अधर को लाल करने की बात कही गई है।

प्रसाधन करने के लिये अन्तः पुरों में विशेष सेविकायें नियुक्त की जाती थीं। वे प्रसाधन की सामग्रियों को एक विशेष पेटिका में रखती थी। वाराणसी के कला-भवन संग्रह में एक रेलिंग स्तम्भ पर एक प्रसाधिका उत्कीर्ण की गई है। वह प्रसाधन की पेटिका को हाथ में लिये हुये अतिभावपूर्ण मुद्रा में है। प्रसाधन की सम्पूर्ण सामग्री को प्रसाधनक कहा जाता था। इसको उपहार में दिया जा सकता था।

संस्कृत रूपकों में अभिव्यक्त प्रसाधन-सम्बन्धी तथ्यों के सम्बन्धों में निम्न प्रकार से विवेचना करनी योग्य है—

प्रसाधन की प्रक्रियायें— प्राचीन काल में भारतवर्ष में प्रसाधन की अनेक प्रक्रियायें प्रचलित थीं। नाटकों से निम्न प्रक्रियाओं का परिज्ञान होता है—

स्नान— शरीर की स्वच्छता तथा प्रसाधन के लिये स्नान करना अनिवार्य था। स्नान द्वारा शरीर को स्वच्छ करके ही प्रसाधन किया जाना चाहिये। स्नान करके रगड़ कर पोंछ देने से शरीर की दुर्गन्धि, अरुचि, भारीपन, तन्द्रा, खुजली और अन्य मलिनतायें दूर होती हैं। नाट्यकारों ने स्नानगृहों की महती महिमा का वर्णन किया है। यहाँ वारांगनायें स्वर्ण-घटों में जल भर स्वामी को स्नान कराती हैं। स्नान के अनन्तर स्नानीय चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

? अनुलेपन, विलेपन और वर्णन—शरीर को सुन्दर और सुगन्धित करने के लिये अनुलेपन आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। स्नान करके कर्पूर, चन्दन, केसर आदि का अनुलेपन प्रचलित था। विलेपन और वर्णक का भी महत्व था।

यहाँ अनुलेपन, विलेपन और वर्णक के अन्तर को समझना चाहिये। शुद्ध रूप में लगाये लेप अनुलेपन थे। जैसे कि चन्दन, कर्पूर, केसर आदि। अनेक द्रव्यों सम्मिश्र विलेपन कहलाता था। रंगीन पदार्थों, जैसे कस्तूरी आदि का लेप वर्णक रहा होगा। नागरक की दिनचर्या में अनुलेपन नित्य कर्तव्य था, जो कि स्नान के पश्चात् किया जाता था।

?अङ्गराग— सुगन्धि तथा सौन्दर्यवर्धन के लिये अंगराग का प्रयोग होता है। चन्दन, कस्तूरी, कर्पूर आदि को पीसकर अंगराग बनाया जाता था। हरिचन्दन का अंगराग अति मनोरम था। इसको प्रायः वक्ष पर लगाया जाता था। इन्द्र द्वारा दुष्यन्त को दी गई पारिजात पुष्पों की माला उसके वक्ष पर लगे हरिचन्दन से सन गई थी। कामिनियाँ शरीर पर अंगराग लगाती थीं, जो प्रेमियों के स्पर्श से पुँछ जाता होगा। 'कामसूत्र' के अनुसार तगर, कूठ और तालीसपत्र का अंगराग सौन्दर्यवर्धक होता है। विवाह के अवसर पर नववधू का शरीर अंगराग से सुशोभित होता है।

सुगन्धि—

शरीर, वस्त्र और केशों को सुगन्धित करने के लिये पुष्प और धूप का प्रयोग प्रचलित था। चरक के अनुसार सुगन्धियों का प्रयोग आयु और बल को बढ़ाता है उसके लिये ?शलालु, तगर, नलद, गूगल, उशीर, कर्पूर, केसर आदि का प्रयोग करना चाहिये। नागरक रात्रि के समय पुष्प—मालाओं और सौगन्ध—पुटिका (इत्रदान) का प्रयोग करते थे। वस्त्र भी सुगन्धित किये जाते थे। शौकीन युवक पुष्पों से वस्त्रों को सुगन्धित करते थे। स्त्रियाँ धूपवास से केशों को सुगन्धित करती थीं।

पत्र-रचना-

शरीर की शोभा के लिये नारियाँ अपने अंगों पर विविध प्रकार की पत्रावलियाँ बनाती थीं। मस्तक, कपोल, भुजा, करतल, करपृष्ठ, स्तन और पैर इन पत्रावलियों से सुशोभित होते थे। कपूर, चन्दन, केसर, तमालरस, कस्तूरी आदि द्रव्यों का इसके लिये उपयोग होता था। इन पत्रावलियों को पत्ररेखा, पत्रलतिका, पत्रक्रिया, पत्रभंगी आदि नाम दिये गये थे।

कपोलों पर पत्र-रचना का प्रायः उल्लेख है। नायिकाओं के कपोलों पर पत्ररेखा, पत्रावली, पत्रलतिका, पत्रक्रिया आदि बनाने के वर्णन संस्कृत कवियों ने किये हैं। 'नाट्यशास्त्र' के कपोलों को चित्रित करने के लिये तिलक और पत्र-रचना का विधान है।

स्तनों पर भी पत्र-रचनायें बनाई जाती थीं। भवभूति ने युवतियों द्वारा वक्ष पर पत्रावली बनाने का उल्लेख किया है। अनेक विलासी जन अपनी प्रियाओं के कुचों को पत्र-रचनाओं से सजाते थे।

विशेषक-

शरीर के विभिन्न अंगों पर बनाई जाने वाली पशु आदि की आकृतियों को विशेषक कहते थे। मयूरसेना के कपोलों पर मयूराकृति विशेषक का उल्लेख किया गया है। विलासमय प्रसंगों में प्रायः पुंछ भी जाते थे। वर्षा के जल से ये धुल भी सकते थे।

रोचनाबिन्दु-

महिलायें माथे पर रोचना (रोली का टीका) लगाती थीं। इसको तिलक भी कहा जाता था। तिलक अनेक आकृतियों के बनाये जाते थे।

अंजन—

आँखों में अंजन लगाना प्रसाधन का प्रमुख अंग था। इससे आँखें सुन्दर, सूक्ष्मदर्शी और मनोरम होती हैं। पलके घनी हो जाती हैं। अंजन लगाने से दृष्टि स्निग्ध और सुन्दर होती है। अंजन के बिना प्रसाधन पूर्ण नहीं है। तरल और धवल दृष्टि अंजन से ही शोभित होती है। विलासिनी अभिसारिकायें अंजन लगाकर घूमती थीं। कभी-कभी वर्षा के जल की धारा में आँखों का अंजन फैल सकता था। यह आँसुओं से भी धुल सकता था।

धूप—

वस्त्रों और केशों को सुखाने के तथा सुगन्धित करने के लिये धूप का प्रयोग व्यवहृत था। इसके लिये कृष्ण अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग होता था। विलासिनी युवतियाँ उत्कट गन्ध वाली धूप से अपने केशों को सुखाती थीं।

आसङ्ग—

पैरों में लाक्षारस लगाने से पहले स्त्रियाँ अस्तर के रूप में एक विशेष सुगन्धित मिट्टी का लेप करती थीं। इस प्रक्रिया को आसङ्ग कहा गया था।

नीलीकर्म(Hair Dyeing)—

केशों को काला करने की प्रक्रिया नीलीकर्म (खिजाब लगाना) थी। शौकीन जन नीलीकर्म, स्नान और अनुलेपन द्वारा अपने को युवा दिखाने का प्रयत्न करते थे। ऐसे व्यक्ति को ?जलधरनीलालेपः कहा गया है। नीलीकर्म के लिये त्रिफला, गोखरु, भृंगराज, आम्र मज्जा और लोहचूर्ण प्रयोग करने के लिये कहा है।

रुचक—

होंठों को लाल करने के लिये रुचक का प्रयोग करते थे। सम्भवतः यह प्रदार्थ लाख से बनाया जाता था। पान के द्वारा भी होंठ लाल किये जा सकते थे। शिशिर ऋतु में होंठों पर एक विशेष प्रकार की चिकनाई (मदन) लगाई जाती थी।

प्रसाधन की विशेष सामग्रियाँ—

प्रसाधन की अनेक सामग्रियों का प्रयोग प्राचीन काल में विदित था। इनमें से अधिकांश सामग्रियाँ वनस्पतिज ही थीं। प्रसाधन की प्रक्रियाओं में अनेक सामग्रियों का निर्माण वनस्पतियों से ही किया जाता था। प्रसाधन की प्रक्रियाओं में अनेक सामग्रियों का उल्लेख आ जाने पर भी इनको पृथक् रूप से देखना आवश्यक है। अनुलेपन द्रव्यों में चन्दन के प्रयोग का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। स्नान करके सारे शरीर पर चन्दन का लेप करने की परम्परा थी। इसको शीतल समझा जाता था। चन्दनों में हरिचन्दन श्रेष्ठ माना गया था। अर्थशास्त्र के अनुसार शुक के से रंग और आम की सी गन्ध वाला यह चन्दन होता है।

कपूर, केसर, उशीर और कस्तूरी के प्रयोग का विवरण भी अनेक स्थानों पर मिलता है। कपूर शीतल है। ग्रीष्म-ऋतु में नायिकायें स्तनों पर कपूर लगाया करती थीं। कपूर सुगन्धि से वायुमण्डल भी सुरभित हो जाता है।

केसर को पीसकर पिंगल वर्ण का सुगन्धित प्रलेप बनता है। इसका लेपन करने से शरीर स्वर्ण के समान चमकता है। मुख, कुचों और पैरों पर केसर का लेप करने के वर्णन मिलते हैं। शौकीन लोग केसर का लेप करके राजमार्गों पर अपनी प्रेमिकाओं के साथ घूमते थे। उशीर को पीसकर अंगराग में मिलाया जाता था। इस द्रव्य को शीतल माना गया था।

कस्तूरी काले रंग का द्रव्य है। यह कस्तूरी नामक मृग की नाभि से प्राप्त होता है। यह अति मूल्यवान था, अतः इसका प्रयोग समृद्ध जन हीं कर सकते थे। कस्तूरी के लेप की सुगन्ध चारों ओर फैल जाती है। प्रेमिकायें कस्तूरी के द्रव से प्रेमपत्र भी लिख लेती थीं। कस्तूरी से मस्तक पर तिलक भी लगाया जाता है।

अगर, कालेयक, तमाल, हरिताल, मनः शिला, सिन्दूर आदि द्रव्य रंगीन थे। इनके द्वारा शौकीन जन अनेक प्रकार के प्रसाधन बनाते थे। इनमें कालेयक, अगर और तमाल वनस्पतिज हैं। अगर एक सुगन्धित पदार्थ था। उसका लेप कुचों और कपोलों पर स्त्रियाँ करती थीं। काला अगुरु अधिक सुगन्धित होता है यह काले रंग का काष्ठ था। स्त्रियाँ इसका लेप स्तनों पर करती थीं।

तमाल और हरिताल से विविध प्रकार की पत्ररचनायें बनाई जाती थीं। मनः शिला के तिलक का वर्णन है। सिन्दूर से कपोल लाल किये जा सकते थे।

प्रसाधन में लाल रंग के लिये लाक्षारस का प्रयोग होता था। यह विशेष वृक्ष का गोंद है इस रस (अलक्तक) से महिलायें पैरों को लाल रंगती थी। पैरों में अलक्तक रस लगाकर युवतियों के घूमने से भूमि लाल हो जाती थी। कोमल चरणों का यह श्रृंगार है, जो कोमल भूमि पर रखे जाते हैं। प्रणयि—जन अपने हाथों से प्रेमिकाओं के चरणों में अलक्तक लगा कर प्रेम का प्रदर्शन करते थे।

खटिका श्वेत पदार्थ है। इसके जल से मुख को गौर करके महिलायें बुरी दृष्टि बचाने के लिये काला टीका लगा देती थी।

शौकीन लोग विशेष प्रकार के सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग करते थे। सुगन्धित स्नानीय चूर्ण को स्नान के पश्चात् शरीर पर छिड़का जाता था।

शिल्पी जन सुगन्धित तेल बनाते थे। सुगन्ध के लिये इनमें पुष्पों को मसल कर मिलाया जाता था। विलासिनी महिलायें अंगों पर विविध सुगन्धों से अधिवासित तेल की मालिश कराती थी। रसिक जन उन अंगों के स्पर्श से अपने को धन्य समझते थे। केशों में सुगन्धित तेल लगा कर उनकी वेणी बनाने का संकेत मिलता है।

प्रसाधन के रूप में स्त्री—पुरुष पान का भी प्रयोग करते थे। शौकीन जन विविध श्रृंगार करके और पान का बीड़ा मुख में रखकर सार्वजनिक मार्ग में घूमते थे। होठों को लाल करने के लिये युवतियाँ पान खाती थीं। समृद्ध घरों में पानों के लिये विशेष दासियाँ (ताम्बूलकरङ्कवाहिनी) होती थी।

प्रसाधन के रूप में राख (भस्म) का भी उल्लेख है। ब्रह्मचारी और सन्यासी इसको लगाते थे।

अर्गों का प्रसाधन—

प्रसाधन के इस प्रकरण में यह अवलोकन करना उचित होगा कि शरीर के किस अंग में किस प्रकार से सजावट की जाती थी। प्रसाधन की प्रक्रियाओं और प्रसाधन—द्रव्यों के वर्णनों के अन्तर्गत यद्यपि विविध अंगों का उल्लेख आ गया है, तथापि प्रत्येक अंग के प्रसाधन का वर्णन व्यवस्थित रूप से करना आवश्यक और ज्ञानवर्धक है। इस दृष्टि से शरीर को चार विभाग में बाँटा जा सकता है—सम्पूर्ण शरीर, मुख, वक्ष और पैर।

सम्पूर्ण शरीर—

सम्पूर्ण शरीर को विविध अनुलेपनों, विलेपनों और वर्णकों से प्रसाधित करने के वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्रियङ्गु, लोध्र, चन्दन, मसूर आदि द्रव्यों को पीस कर तथा उनको दूध—मलाई में मिला कर उबटन बनाया जाता था। कामिनियाँ शरीर पर चन्दन, केसर आदि का अङ्गराग लगाती थीं। शीतलता के लिये चन्दन और कपूर का लेप होता था। अङ्गों पर कालागुरु और चन्दन का लेप करने का भी उल्लेख किया गया है। केसर का लेप करने से शरीर कान्तिमान् होता है। शीत ऋतु में कालेयक का लेप लगाना उष्णता एवं सौन्दर्य वर्धक के लिये उपयुक्त समझा गया था। विभिन्न अङ्गों पर पत्र—रचनाओं के वर्णन भी मिलते हैं।

मुख— मुख के विभिन्न अवयवों—माथा, कपोल, कान, आँख, होंठ, दन्त आदि के प्रसाधन का वर्णन रूपकों में उपलब्ध होते हैं। मुख पर केसर और कपूर लगाते हैं। खटिका के रस से मुख को गौरा किया जाता था।

माथे पर रोचनाबिन्दु (रोलीका बिन्दु) और तिलक लगाया जाता था। तिलक के लिये कस्तूरी का प्रयोग विदित था। माथे पर गोरोचना और काजल का टीका लगाने का भी संकेत प्राप्त होता है।

कपोलों के प्रसाधन का विशेष वर्णन किया गया है। केसर का लेप करने से ये दीप्तिशाली होते हैं। शिशिर ऋतु में यह लेप विशेष रूप से किया जाता था।

अंजन के बिना आँखों का प्रसाधन अपूर्ण था। होठों के लिये मदन, रूचक और लाक्षारस के प्रयोग के वर्णन किये गये हैं। मंजिष्ठा और पान भी होंठ लाल करने के साधन थे।

दान्तों का प्रसाधन करने के भी संकेत प्राप्त होते हैं। दन्तधावन (दातौन) द्वारा दान्तों को स्वच्छ करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। 'नाट्यशास्त्र' में दान्तों को रंगने, मुक्ता के समान श्वेत करने और पद्म के समान लाल करने के वर्णन है।

वक्ष—

वक्ष के प्रसाधन का उल्लेख पहले कई बार किया जा चुका है। विविध द्रव्यों को पीस कर बनाये गये वर्णकों का वक्ष पर लेप होता था। कर्पूर, कुङ्कुम, कालेयक, चन्दन और हरिचन्दन का लेप करने की परम्परा थी। कालिदास ने कुङ्कुम के प्रलेप से सुन्दर पिंगल वर्ण के स्तनों का वर्णन किया है। स्तनों पर चन्दन के लेप का बहुधा वर्णन है। इस प्रयोजन के लिये हरिचन्दन का अधिक समादर रहा था। बसन्त ऋतु में विलासिनी स्त्रियाँ गौर वर्ण के स्तनों पर प्रियङ्गु, कालेयक और कुङ्कुम लगाकर कस्तूरी से मिश्रित चन्दन लगाती थीं। स्तनों पर बनाई जाने वाली पत्ररचनाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है।

पैर—

पैरों का भी समुचित प्रसाधन होता था। अलक्तक रस, कुङ्कुम और आसंग के पैरों पर लेप करने का वर्णन पहले किया जा चुका है।

(3) केशों का प्रसाधन—

भारतीय समाज में केशों का प्रसाधन करने के लिये वनस्पतियों के विविध अंगों का प्रयोग अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। केशों को काला करने के लिये त्रिफला, गोखरु और लोहचूर्ण के प्रयोग का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

? केशों को जूड़े का वेणी के रूप में बाँध कर पुष्प गूथे जाते थे। सुरभित पुष्पों से केशों को सजा कर युवतियाँ प्रिय को आकृष्ट करती थीं। केशों को सुगन्धित धूप द्वारा सुवासित भी करते थे। धूपित करने से केश सूख भी जाते थे और उनमें सुगन्ध भी व्याप्त हो जाती थी। ऐसे केश आश्यान कहे जाते थे। सुगन्ध को धूपवास कहा गया था। धूप द्वारा केशों को सुगन्धित करने की प्रक्रिया केश-संस्कार कहलाती थी। केशों को धूपित करने के लिये काला अगुरु का प्रयोग अधिक प्रचलित था।

(ग) वनस्पतिज द्रव्यों द्वारा अलंकरण—

प्राचीन काल में भारतीयों द्वारा वनों और वाटिकाओं में उपलब्ध होने वाली वनस्पतियों के पुष्पों और पल्लवों का आभूषणों के रूप में प्रयोग प्रचुरता से किया जाता था। कदम्ब, शिरीष, सिन्धुवार, अशोक, बासन्ती, कुन्द, कुरबक, आम्रमंजरी आदि पुष्पों से युवतियाँ अपने को सजाती थीं। सिर, कान, ग्रीवा, वक्ष, हाथ, पैर, कटि आदि सभी अंगों पर ये आभूषण पहने जाते थे। पुष्पों और पुष्प मालाओं के विक्रय के लिये नगरों में विशेष बाजार (पुष्पवीथी) होते थे। मालाकारों द्वारा पुष्पों और पुष्पकाभरणों की दुकानें सजाई जाती थी। कृष्ण ने मथुरा में मालाकारों की दुकानों से पुष्प लिये थे।

कवियों ने पुष्पाभरणों से सजी हुई युवतियों का मनोरम चित्र अंकित किया है। ग्रीष्म ऋतु में युवतियाँ कानों में शिरोय, स्तनों पर सिन्धुवार पुष्पों का हार, अंगों पर गीला वस्त्र, कटि पर कमलों की मेखला और हाथों में मृणाल वलय पहनती हैं। उदयन ने वासवदत्ता से अनुरोध किया था कि वह पुष्पालंकारों को इस प्रकार धारण करें—‘कानों में नवकेतकी की पंखुड़ी, हाथों में मृणाल-वलय और सिर पर नील-कमल की पंखुड़ियों से अनुबिद्ध पुष्प’।

?पुष्पाभरण धारण किये कामिनी का शरीर कवियों की दृष्टि में बसन्त का आगमन हो था। जूड़े में बसन्ती, कुन्द, कुरबक के पुष्प, वेणी के छोर पर अशोक का पुष्प, स्तनों

पर सिन्दुवार के पुष्पों की माला, करों में आम्र की नव मंजरियाँ तथा कोपलें और अंजलि में पुष्पों की सज्जा होती है।

प्राचीन समय में युवतियाँ जब सज-धज कर बाहर निकलती थी, तो उनके शरीर विशेष रूप से पुष्पालंकाकर होते थे। अन्धकार होने पर भी मालाओं की सुगन्धि से ही उनकी उपस्थिति का बोध हो जाता था।

वे लाघ्र के पराग से अपने मुख को गोरा करती थी।

कालीदास ने विभिन्न ऋतुओं में भिन्न प्रकार के पुष्पाभरणों की शोभा का वर्णन किया है। इनमें वर्षा, शरद् और बसन्त अधिक आकर्षक है। वर्षा ऋतु में नवयुवतियाँ कदम्ब, केतकी की मालायें सिर पर धारण करती हैं। नवविकासित बकुल और यूथिका की कलियों को मालाओं में पिरों लेती हैं। अर्जुन वृक्ष की मंजरियों और नव कदम्ब पुष्पों को कान का आभूषण बनाती हैं। शरद् ऋतु में सुन्दर युवतियाँ घने काले केशों में नवमालती पुष्प भर लेती हैं और कानों में स्वर्ण कुण्डलों में नीलोत्पल पिरों लेती हैं। बसन्त ऋतु में वे कानों में कर्णिकार, केशों में अशोक तथा शरीर पर नवमल्लिका पुष्पों को धारण करती हैं।

सिर के पुष्पाभरण—

सिर और केशों को सजाने के लिये विविध प्रकार के पुष्पों का प्रयोग किया जाता था। सिर पर मालायें रखी जाती थीं। कवियों ने पुष्पों के आभरणों से केशों के सुरभित रहने का प्रायः वर्णन किया है। तेज चलने अथवा अधिक परिश्रम करने पर ये मालायें ढीली होकर बिखर सकती थीं।

महिलायें श्वेत पुष्पों में नील कमलों की पंखुड़ियाँ मिला कर सिर पर धारण करती थीं। वे केशपाशों को कुरबक के नव पुष्पों से सुन्दर ढंग से सजाती थीं। वनों में युवतियाँ वन्य लताओं और पुष्पों से केशों का श्रृंगार करती थीं। केशों में मल्लिका के

पुष्प गूँथे जाते थे। कुरटक, अशोक और अन्य पुष्पों के हार शिरोभूषण के रूप में रखे जाते थे। केशों में बाँध कर उनमें और वेणी में पुष्पों को गूँथने का वर्णन किया गया है। सिर को चम्पक पुष्पों से सुवासित किया जाता था।

सिर के पुष्पाभरणों में दो का महत्वपूर्ण उल्लेख है— शैखरक और पुष्पापीड। शैखरक को पुरुष भी धारण करते थे। पुष्पापीड पुष्पों का बड़ा आभूषण था। इसको वर्तमान समय में गजरा कहा जा सकता है। पुष्पों की दुकानें इस आभूषण से भरी रहती थी।

केशों के मध्य सीमन्त की शोभा होती थी। इसमें महिलायें पुष्प लगाती थीं। इसके लिये कदम्ब का पुष्प अधिक लोकप्रिय था।

कर्ण के पुष्पाभरण— पुष्पों और नव किसलयों द्वारा कानों को विभूषित करने का प्रचुर वर्णन प्राप्त होता है। पुष्पित कर्णाभरण को अवतंस या उत्तंस भी कहा गया है। पुष्प रचित कर्णपूर और कर्णात्पल का भी उल्लेख हुआ है। कानों को सजाने के लिये अनेक प्रकार के पुष्पों का उपयोग किया जाता था। कमल और केतकी की पंखुड़ियाँ कानों में पहनी जाती थीं। कदम्बपुष्प भी इस प्रयोजन के लिये लोकप्रिय था और यह नीचे गालों तक लटकता था। कर्णिकार को भी कानों में सजाने योग्य माना गया था।

कर्णाभूषण में शिरीष का अधिक उल्लेख मिलता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रमदायें इस पुष्प को कानों में लटका लेती थी। इसके केसर नीचे गालों को स्पर्श करते हैं। बसन्त ऋतु में आम्र मंजरियाँ कानों में पहनी जाती थीं।

ग्राम्य युवतियों द्वारा धान्य की मंजरियों को कानों में पहने जाने के वर्णन भी किये गये हैं।

ग्रीवा और वक्ष के आभूषण—

ग्रीवा और वक्ष के पुष्पाभरणों का उल्लेख कवियों ने बहुधा किया है। जन सामान्य पुष्पों की मालायें पहनते थे और इनको उपहार में भी देते

थे। विवाह के समय वधू को फूलों की मालायें पहनाई जाती थीं। युवतियाँ जब ग्रीवा में मालायें धारण करती हैं, तो वे स्तनों तक लटक उनको सुशोभित करती हैं। वनों में जाने पर नगरों की युवतियाँ भी अन्य वन्य ?पुष्पों की मालायें पहन लेती थीं। दुष्यन्त की अंगक्षिकाओं यवनियों ने इसी प्रकार की मालायें पहनी हुई थीं। मृणाल के सूत्रों की मालायें युवतियों के स्तनों के मध्य भाग की शोभा को बढ़ाती थीं।

पुरुष भी अपने चन्दन से चर्चित वक्ष पर माला धारण करते थे।

पुष्पमालाओं को गूँथने का भी बहुत रिवाज था। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही इनको गूँथा करते थे।

मालायें अनेक पुष्पों की बनाई जाती थीं। कुन्द, बकुल, जाती आदि पुष्पों की मालायें बनाने के उल्लेख हैं। राजाओं को स्वर्ण कमलों की मालायें बहुत पसन्द थीं। वक्ष पर सिन्दुवार पुष्पों की मालायें अति सुन्दर लगती थीं।

माला बनाने वाले मालाकार इनको बना कर बाजारों में बेचते थे। कृष्ण ने मथुरा में एक मालाकार की दुकान से मालायें ली थीं। विशेष अवसरों पर वे मालायें खूब बिकती थीं। माँग अधिक होने पर ये महंगी भी हो जाती थीं।

विशेष अवसरों पर युवक और युवतियाँ सुगन्धित मालाओं को ग्रीवा में धारण करते थे। सन्ताप की शान्ति के लिये मृणाल-हार भी पहने जाते थे। फूलों की मालायें प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं फबती। बाल कटवा देने वाली युवती इससे सुशोभित नहीं होती।

हाथों के पुष्पाभरण—

हाथों में मुख्य रूप से मृणालवलय पहने जाने का वर्णन है। युवतियाँ बसन्त ऋतु में मृणालवलय बना कर हाथों में पहनती थीं। ताजे मृणाल-वलयों को शरद् ऋतु में भी पहनने का वर्णन है। इनको शृङ्गार का अनिवार्य अंग माना गया था। इनका उपयोग सन्ताप को शान्त करने वाला माना जाता था। विरहजन्य सन्ताप को शान्त करने के लिये शकुन्तला ने बिस का आभरण धारण किया था।

सौन्दर्य की वृद्धि के लिये युवतियां हाथों में कमल-पुष्पों को लेती थीं। उदयन ने सागरिका के हाथों में लाल कमल देखा था। अलकापुरी की युवतियां लालकमल हाथों में लेती थीं। युवतियों के हाथ कमलों में सुशोभित होते हैं। पुष्पों से भरी युवतियों की अंजलि अति आकर्षक और मनोहारी प्रतीत होती हैं।

कटि के आभूषण- कवियों ने कटिप्रदेश पर पुष्पालंकार पहनने का वर्णन किया है। ग्रीष्म में युवतियों द्वारा कटि पर उत्पलों की और मृणाल की मेखला को धारण करने के संकेत मिलते हैं।